M.A. Political Science (Previous) (DDE)

Semester – I

Paper Code – 20POL21C2

INDIAN GOVERNMENT & POLITICS - I

भारतीय सरकार और राजनीति - I

DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK

(A State University established under Haryana Act No. XXV of 1975)
NAAC 'A+' Grade Accredited University

Semester – I

Syllabi – Book Maping Table

भारतीय सरकार और राजनीति

इकाई संग्रह	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
ईकाई–1	संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि	8–71
	राष्ट्रीय आन्दोलन	4–48
	संवैधानिक विकास	49–61
	राजनैतिक विरासतें	62–71
ईकाई–2	संविधान निर्माण के आधार	72–160
	संविधान निर्माण : परिप्रेक्ष्य एवं विचारधारा	74–92
	भारतीय संविधान की प्रस्तावना	93–103
	मौलिक अधिकार व मौलिक कर्त्तव्य	104–134
	राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत	135–160
ईकाई–3	केन्द्रीय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया	161–243
	राष्ट्रपति	163–192
	प्रधानमन्त्री	193–205
	संघीय मन्त्रिपरिषद्	206–216
	भारतीय संसद तथा उसकी कार्यप्रणाली	217–243
ईकाई–4	प्रान्तीय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया	244–281
	राज्यपाल	246–258
	मुख्यमन्त्री	259–266
	राज्य स्तर पर मन्त्रिपरिषद्	267–274
	राज्य विधानमण्डल	275–281

Semester - I

विषय सूची

इकाई संग्रह	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
ईकाई–1	संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि	8–71
1.0	ईकाई परिचय	8
1.1	ईकाई उद्देश्य	8
1.2	राष्ट्रीय आन्दोलन	9–48
1.2.1	परिचय	9
1.2.2	उद्देश्य	9
1.2.3	राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ	10–44
1.2.4	निष्कर्ष	44
1.2.5	मुख्य शब्दावली	45
1.2.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	45
1.2.7	सन्दर्भ सूची	46–48
1.3	संवैधानिक विकास	49–61
1.3.1	परिचय	49
1.3.2	उद्देश्य	49
1.3.3	संविधान का विकास	49–59
1.3.4	निष्कर्ष	59
1.3.5	मुख्य शब्दावली	59
1.3.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	59
1.3.7	सन्दर्भ सूची	60–61
1.4	राजनैतिक विरासतें	62–71
1.4.1	परिचय	62

1.4.2	उद्देश्य	62
1.4.3	राजनैतिक विरासतें	63–68
1.4.4	निष्कर्ष	68
1.4.5	मुख्य शब्दावली	68
1.4.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	69
1.4.7	सन्दर्भ सूची	69–71
ईकाई–2	संविधान निर्माण के आधार	72–160
2.0	इकाई परिचय	72
2.1	इकाई उद्देश्य	72–73
2.2	संविधान निर्माण : परिप्रेक्ष्य एवं विचारधारा	74–89
2.2.1	परिचय	74
2.2.2	उद्देश्य	74
2.2.3	संविधान निर्माण : परिप्रेक्ष्य एवं विचारधारा	74–89
2.2.4	निष्कर्ष	89–90
2.2.5	मुख्य शब्दावली	90
2.2.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	90
2.2.7	सन्दर्भ सूची	90–92
2.3	भारतीय संविधान की प्रस्तावना	93–100
2.3.1	परिचय	93
2.3.2	उद्देश्य	93
2.3.3	संविधान की प्रस्तावना	93–100
2.3.4	निष्कर्ष	100
2.3.5	मुख्य शब्दावली	101
2.3.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	101
2.3.7	सन्दर्भ सूची	102–103

2.4	मौलिक अधिकार व मौलिक कर्त्तव्य	104–131
2.4.1	परिचय	104
2.4.2	उद्देश्य	104
2.4.3	मौलिक अधिकार व मौलिक कर्त्तव्य	104–131
2.4.4	निष्कर्ष	131
2.4.5	मुख्य शब्दावली	131
2.4.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	131–132
2.4.7	सन्दर्भ सूची	132–134
2.5	राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत	135–157
2.5.1	परिचय	135
2.5.2	उद्देश्य	135–136
2.5.3	राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत	136–157
2.5.4	निष्कर्ष	157
2.5.5	मुख्य शब्दावली	158
2.5.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	158
2.5.7	सन्दर्भ सूची	159–160
ईकाई–3	केन्द्रीय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया	161–243
3.0	इकाई परिचय	161
3.1	इकाई उद्देश्य	161–162
3.2	राष्ट्रपति	163–189
3.2.1	परिचय	163
3.2.2	उद्देश्य	164
3.2.3	राष्ट्रपति का निर्वाचन	164–189
3.2.4	निष्कर्ष	189
3.2.5	मुख्य शब्दावली	189

3.2.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	190
3.2.7	सन्दर्भ सूची	190–192
3.3	प्रधानमन्त्री	193–202
3.3.1	परिचय	193
3.3.2	उद्देश्य	193
3.3.3	प्रधानमन्त्री की नियुक्ति	193–202
3.3.4	निष्कर्ष	203
3.3.5	मुख्य शब्दावली	203
3.3.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	203–204
3.3.7	सन्दर्भ सूची	204–205
3.4	संघीय मन्त्रिपरिषद्	206–214
3.4.1	परिचय	206
3.4.2	उद्देश्य	206
3.4.3	संघीय मन्त्रिपरिषद् की मुख्य विशेषताएं	206–214
3.4.4	निष्कर्ष	214
3.4.5	मुख्य प्रश्नावली	214
3.4.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	214–215
3.4.7	सन्दर्भ सूची	215–216
3.5	भारतीय संसद तथा उसकी कार्यप्रणाली	217–240
3.5.1	परिचय	217
3.5.2	उद्देश्य	218
3.5.3	संसद तथा उसकी कार्यप्रणाली	218–240
3.5.4	निष्कर्ष	240
3.5.5	मुख्य शब्दावली	240–241
3.5.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	241–242

3.5.7	सन्दर्भ सूची	242–243
ईकाई–4	प्रान्तीय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया	244–281
4.0	इकाई परिचय	244
4.1	इकाई उद्देश्य	244–245
4.2	राज्यपाल	246–255
4.2.1	परिचय	246–247
4.2.2	उद्देश्य	247–248
4.2.3	राज्यपाल की शक्तियाँ	248–255
4.2.4	निष्कर्ष	255
4.2.5	मुख्य शब्दावली	255–256
4.2.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	256
4.2.7	सन्दर्भ सूची	256–258
4.3	मुख्यमन्त्री	259–264
4.3.1	परिचय	259
4.3.2	उद्देश्य	259
4.3.3	मुख्यमन्त्री की नियुक्ति	259–266
4.3.4	निष्कर्ष	264
4.3.5	मुख्य शब्दावली	264
4.3.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	264–265
4.3.7	सन्दर्भ सूची	265–266
4.4	राज्य–स्तर पर मन्त्रिपरिषद्	267–272
4.4.1	परिचय	267–268
4.4.2	उद्देश्य	268
4.4.3	राज्य मन्त्रिमण्डल की विशेषताएँ	268–272
4.4.4	निष्कर्ष	272

4.4.5	मुख्य शब्दावली	272
4.4.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	272–273
4.4.7	सन्दर्भ सूची	273–274
4.5	राज्य विधान मण्डल	275–278
4.5.1	परिचय	275
4.5.2	उद्देश्य	275
4.5.3	राज्य विधानमण्डल के कार्य तथा शक्तियाँ	275–278
4.5.4	निष्कर्ष	278–279
4.5.5	मुख्य शब्दावली	279
4.5.6	अभ्यास हेतू प्रश्न	279
4.5.7	सन्दर्भ सूची	280–281

समैस्टर – 1
ईकाई – 1
संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि

1.0 ईकाई परिचय

प्रथम इकाई भारतीय संविधान के निर्माण के पीछे के इतिहास के बारे में अवगत कराती है। विश्व के प्रत्येक देश के शासन व राजनीति के आधारभूत तत्त्वों में भिन्नता पाई जाती है। क्योंकि किन्हीं भी दो देशों का शासन व राजनीति समान नहीं होते। प्रत्येक देश की राजनीति, वहां की भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, आर्थिक स्थिति, सामाजिक ढ़ांचे तथा संस्कृति से प्रभावित होती है। इतिहास का राजनीति पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है और भारतीय राजनीति पर इतिहास का प्रभाव सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों में पड़ा है।

हमें ये ज्ञातव्य है कि भारत अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण लगभग 200 वर्षों तक ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश रहा। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का आरम्भ ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से हुआ और इसका अन्त भारत की स्वतन्त्रता के साथ 15 अगस्त 1947 को हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता का एक लम्बा एवं संघर्षमय इतिहास रहा है और इस इतिहास का सही अध्ययन करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति को समझना आवश्यक है। देश की पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पहले इस आन्दोलन को विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा। इस दौरान ब्रिटिश शासन के द्वारा अनेक अधिनियम पारित किए गए। इन अधिनियमों की भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही।

1.1 उद्देश्य

- भारतीय संविधान की आधारभूत परिस्थितियों को जानना
- संवैधानिक विकास में राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या योगदान रहा
- ब्रिटिश शासन की क्या भूमिका रही
- विभिन्न वर्गो, समुदायों और संगठनों की क्या भूमिका रही
- संविधान निर्माण की प्रक्रिया और स्वरूप को जानना

1.2 राष्ट्रीय आन्दोलन (National Movement)

1.2.1 परिचय

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास एक लम्बा एवं संघर्षमय इतिहास है और इस इतिहास का सही अध्ययन करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति को समझना आवश्यक है क्योंकि इसी के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलन की दुर्बलताओं एवं सबलताओं को पहचाना जा सकता है। वस्तुतः भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक परस्पर विरोधी तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए है और इसी कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति काफी जटिल है और इसके स्वरूप में समरूपता नहीं है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय तथा विकास आधुनिक भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यद्यपि अपने स्वरूप में भिन्न–भिन्न तथा क्षेत्र में विस्तृत यह आन्दोलन मुख्यतौर से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा चलाया गया। देश की पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पहले इस आन्दोलन को विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा।

1.2.2 उद्देश्य

- विभिन्न वर्गो और समुदायों के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में क्या भूमिकाएँ रही
- आन्दोलन की सफलताओं और असफलताओं का मूल्यांकन करना
- आन्दोलन का स्वरूप शान्तिपूर्ण था या क्रांतिकारी ये जानना
- स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में जिस व्यवस्था को अपनाया, उसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या योगदान था।

यद्यपि, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठित विकास 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में आरम्भ हुआ किन्तु शताब्दी के आरम्भ से ही इसके लक्षण दिखाई देने लगे थे। सन् 1828 में ब्रह्म समाज का गठन हुआ जिसने शिक्षित हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावना का प्रदर्शन किया। सन् 1843 में ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी तथा 1851 में ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन जैसी संस्थाओं का गठन आरम्भ हुआ। ये संस्थाएँ भारतीयों के राजनीतिक राष्ट्रवाद का प्रदर्शन तो करती थी किन्तु इनमें केवल गिने–चुने लोग ही

सदस्य थे। इनका कोई राष्ट्रव्यापी आधार नहीं था। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में विभिन्न संगठनों द्वारा राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात होने लगा था। जिसका सबसे पहला विस्फोट सन् 1857 में हुआ।

1.2.3 राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ

सन् 1857 में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीयों ने पहली बार एक संगठित क्रान्ति की। इसका मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में अपनाई गई आर्थिक–सामाजिक नीतियाँ थी। इसका आरम्भ कलकत्ता के पास बैरकपुर छावनी में 23 जनवरी, 1857 को हुआ। इसके बाद यह दिल्ली, मेरठ, आगरा, इलाहाबाद, अवध, रोहेलखण्ड आदि प्रदेशों में फैल गया। बहुत से स्थानों पर अंग्रेजी शासन कुछ समय के लिये समाप्त हो गया। बहादुरशाह 'जफर' नाना साहब, तात्या टोपें, महारानी लक्ष्मीबाई, खान बहादुर खाँ आदि नेताओं ने जगह–जगह पर क्रान्ति का नेतृत्व किया।

इस क्रान्ति के विषय में यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों में मतभेद है। यूरोप के अधिकांश विद्वान इसे 'सिपाही विद्रोह' और एक आकस्मिक घटना मानते हैं। दूसरी ओर भारतीय विद्वान् इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम मानते हैं। श्री जॉन सीले के अनुसार, ''सन् 1857 का गदर केवल सैनिक विद्रोह था। यह पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थी विद्रोह था, जिसका न कोई देशी नेता था और न जिसको सम्पूर्ण जनता का समर्थन प्राप्त था। सर जॉन लारेन्स भी इसी मत का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विचार है कि ''यह एक सैनिक विद्रोह से बहुत कुछ अधिक था। यह जोरों से फैला और इसने एक जनप्रिय आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता संग्राम का रूप ले लिया।'' लाला लाजपतराय का विचार था कि ''भारतीय राष्ट्रवाद ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहित किया जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लिया।''

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास पर सन् 1857 की क्रान्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। जिस क्रूरता के साथ अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को दबाया और हजारों भारतीयों को मौत के घाट उतारा उससे भारतीयों के दिल में ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट करने की भावना घर कर गई। दूसरी ओर अंग्रेजों में भारतीयों के प्रति संदेह

पैदा हो गया। उन्होंने भारतीयों को अपमानित किया तथा भारतीयों के बीच फूट डालकर शासन करने की नीति को अपनाया। विद्रोह का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव ब्रिटिश भारत की शासन–व्यवस्था पर पड़ा। इससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त हो गया और भारत पर सीधे ब्रिटिश सम्राज्ञी का शासन आरम्भ हो गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम घटनाओं में से एक है। इसकी स्थापना द्वारा सम्पूर्ण भारत की एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की इच्छा पूरी हुई। इसके जन्म के साथ भारतीय आन्दोलन को संगठित करने, उसका विकास करने तथा भारत को स्वतंत्रता दिलाने वाली संस्था का जन्म हुआ। किन्तु जन्म के विषय में जानने से पहले इसको जन्म देने वाली परिस्थितियों एवम् घटनाओं को जानना आवश्यक है –

1857 से 1885 ई० के बीच की मुख्य घटनाएँ

1857 की क्रान्ति के परिणामस्वरूप पुराने भारतीय समाज की शक्तियाँ कमजोर हो गई और नई सामाजिक शक्तियाँ अभी पूरी तरह से परिपक्व नहीं हो सकी थी, ये केवल 1870 के बाद ही अपना योगदान कर सकी। इस बीच 1857 और 1870 के समय में दो बार ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटने की चेष्टा की गई। पहली चेष्टा वहाबी आन्दोलन द्वारा की गई किन्तु सरकार ने इसे दबा दिया। दूसरी घटना मराठा विद्रोह की है, जो 1857 के विद्रोह के बाद से ही गुप्त रूप से कार्य कर रहे थे। इसे भी सरकार ने समाप्त कर दिया।

1870 ई० के बाद भारत में राजनीतिक और आर्थिक असन्तोष बहुत ही तीव्र गति से फैला। इस समय तक पहुँचते–पहुँचते किसानों और दस्तकारों की दशा बहुत ही शोचनीय हो गई थी। वे लोग कर्जे में बुरी तरह से फंसे हुए थे। 1867 से 1880 ई० तक बहुत से अकाल हुए जिनमें 1877 का अकाल तो बहुत ही भंयकर था जिसने करीब 2 लाख वर्ग मील के इलाके को तबाह कर दिया। किसानों के असन्तोष के कारण कई जगह विद्रोह किये जिनमें दक्षिण का किसान विद्रोह 1875 सबसे गम्भीर था।

अफगान युद्ध, देहली दरबार (1877), वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (1878) और आर्म्स एक्ट (1879) आदि महत्वपूर्ण घटनाएँ लार्ड लिटिन के शासन–काल में घटित हुई जिनसे भारतीयों में ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष एवं क्रोध को बढ़ावा मिला।

भारतीय जनता लार्ड लिटिन के शासन–काल से क्षुब्ध तो थी ही इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने भारतीयों के दिल में अंग्रेजों की नीति के प्रति घृणा की भावना जाग्रत कर दी और इसी भावना के अन्तर्गत भारतीय शिक्षित वर्ग ने एक राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संस्था की स्थापना का निश्चय किया। इस घटना का सम्बन्ध इलबर्ट बिल से है जिसने अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की खाई और भी चौड़ी कर दी। लार्ड लिटिन के उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने भारतीय न्याय व्यवस्था को उन्नत करने का प्रयत्न किया और भारतीय न्यायाधीशों को योरोपीय लोगों के भी मुकदमा सुनने का अधिकार देने के उद्देश्य से यह बिल पेश कराया। वास्तव में लार्ड रिपन जातीय विभेद को दूर करना चाहते थे। अंग्रेजों ने इस बिल का विरोध किया। जगह–जगह पर रोष भरे व्याख्यान दिये गये और सभाएँ की गई। लार्ड रिपन ने डर कर यह बिल वापिस ले लिया। इलबर्ट बिल पास तो नहीं हो सका किन्तु इस विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीयों को एक पाठ पढ़ाया। उन्होंने सीखा कि यदि संगठित होकर सरकार के गलत कार्यों का विरोध किया जाये तो उसे हार माननी पड़ती है।

काँग्रेस की स्थापना से पूर्व की संस्थाएँ

कांग्रेस के जन्म से पहले भारतीयों ने अनेक राजनीतिक संगठनों की स्थापना की कोशिशें की। इस संस्थाओं का उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठित रूप से संचालन करना था। सर्वप्रथम 1851 ई० में कलकत्ता में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई। इसके बाद बम्बई में 'बम्बई एसोसिएशन' 'एसोसिएशन' नामक संस्था का गठन किया गया। ये संस्थाएँ केवल थोड़े समय तक रही। प्रथम महत्वपूर्ण अखिल भारतीय संस्था 'इण्डियन एसोसिएशन' श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 1876 में स्थापित हुई। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की दमनकारी तथा साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना था। 1883 ई० में कलकत्ता में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें जनता से एक होने की अपील की गई। इससे

प्रेरणा प्राप्त करके 1884 में बंगाल में नेशनल लीग की स्थापना की गई। 1884 ई० में ही मद्रास में महाजन सभा तथा 1885 में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन की स्थापना हुई।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय कॉंग्रेस से पूर्व ही बहुत सी संस्थाओं का गठन किया गया था। इनका उद्देश्य भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित रूप से चलाना था। किन्तु भारत को इस समय एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता थी जो 1885 ई० में कॉंग्रेस की स्थापना से पूरी हुई।

कॉंग्रेस की स्थापना में मि० ह्यूम का उद्देश्य

मि० ए०ओ० ह्यूम को कॉंग्रेस का जनक माना जाता है, किन्तु कॉंग्रेस की स्थापना में इनके उद्देश्य के विषय में मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि उनका यह कार्य भारतीयों के प्रति उदारता की एकमात्र भावना से प्रेरित था। दूसरी और विद्वानों का कहना है कि भारत में ब्रिटिश सरकार के कार्यो से असंतोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था और किसी भी समय सरकार के खिलाफ विद्रोह हो सकता था। मि० ह्यूम को इसकी खबर पुलिस की गुप्त फाइलों से मिल गई थी। उनका विश्वास था कि इस बार सन् 1857 के गदर से भी खतरनाक विद्रोह हो सकता है। इसलिए वह भारत के इस असंतोष को कॉंग्रेस के माध्यम से संवैधानिक रूप में लाना चाहते थे अर्थात् कॉंग्रेस को एक 'निकास नली' के रूप में प्रयोग चाहते थे। ह्यूम ने स्वयं कहा था कि ''A safety valve for the escape of great and growing forces, generated by our own action, was urgently needed and no more efficacious safety valve, than our Congress movement could possibly be devised.'' अन्य इतिहासकारों के भी इसी प्रकार के मत हैं। एंड्रूस और मुखर्जी का कहना है कि ''भारत में कॉंग्रेस के जन्म से पूर्व के वर्ष बहुत ही भंयकर थे। अंग्रेज अधिकारियों में केवल मि० ह्यूम ने इस खतरे को समझा तथा उसे रोकने की चेष्टा की।''

मि० ह्यूम तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन से मिले और उनसे स्वीकृति मिलने पर भारत के उदार शिक्षितों से मिलकर 1885 ई० में कॉंग्रेस की स्थापना की। इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री डब्ल्यू०सी० बनर्जी ने की।

इस अधिवेशन में भारत के उदार बुद्धजीवियों के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजों ने भी भाग लिया। इसमें काँग्रेस ने अपने मुख्य उद्देश्यों को घोषित किया जैसे (i) राष्ट्रीय भावना और सेवा में विकास करना तथा कार्यकर्त्ताओं में मेल पैदा करना; (ii) जाति, वर्ग तथा प्रान्तीयता की भावना को समाप्त करना तथा एकता पैदा करना; (iii) भारतीय समस्याओं का उल्लेख करना; तथा (iv) आगामी वर्ष के लिये कार्यक्रम तैयार करना।

काँग्रेस ने प्रस्ताव पास करके इण्डिया कौन्सिल को समाप्त करना, आई०सी० एस० की परीक्षा के लिये भारतीयों की आयु को बढ़ाना, विधान परिषदों में चुने हुए प्रतिनिधियों का प्रवेश तथा पंजाब, अवध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में नई परिषदों का गठन करना, आदि की सरकार से माँग की। इस प्रकार हम देखते है कि भारत के प्रथम राष्ट्रीय संगठन ने जो माँग रखी वह उदार थी और केवल प्रशासनिक सुधारों से सम्बन्धित थी।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है –

(i) प्रथम चरण – 1885 से 1905 ई० तक

(ii) दूसरा चरण – 1905 से 1918 ई० तक

(iii) तीसरा चरण – 1918 से 1935 ई० तक

(iv) चौथा चरण – 1935 से 1947 ई० तक

प्रथम चरण (1885–1905) ई०

काँग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन उसके इतिहास का ही एक अंग रहा है इसके प्रथम चरण में उदार बुद्धिजीवियों का इस पर अधिकार रहा है और उन्होंने ही आन्दोलन का नेतृत्व किया है। इस काल में इसके सामाजिक आधार का विस्तार किया गया तथा शिक्षित मध्यम वर्ग एवं व्यापारी वर्ग भी इसमें भाग लेने लगा। उदारवादी नेता निम्नलिखित सिद्धान्तों में विश्वास करते थे –

1. उदारवादी नेता ब्रिटिश संस्थाओं और ब्रिटिश सभ्यता से पूरी तरह से प्रभावित थे और ब्रिटिश शासन को भारत के लिए लाभकर मानते थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटेन के प्रभाव स्वरूप ही भारत में प्रगतिशील सभ्यता का उदय हुआ है।

अंग्रेजी शिक्षा आवागमन के साधन, न्याय प्रणाली और स्थानीय स्वशासन आदि भारत के लिये वरदान हैं। अतः उदारवादी नेता ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त थे। इनमें दादा भाई नौरोजी, डी०ई० वाचा, उमेश चन्द्र बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और फीरोज शाह मेहता तथा जी०के० गोखले आदि महत्वपूर्ण हैं।

2. उदारवादियों को वैधानिक तरीकों में पूरा विश्वास था। वे प्रार्थनाओं, प्रार्थना–पत्रों, स्मरण पत्रों और प्रतिनिधि मंडलों द्वारा सरकार से अपनी न्याय–युक्त माँगों को मनवाने का आग्रह करते थे। इसलिए इनकी नीति को 'राजनीतिक भिक्षा वृत्ति' का नाम दिया गया है।

3. उदारवादी नेता क्रमिक सुधारों में विश्वास करते थे और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को उचित नहीं मानते थे। उनका मुख्य उद्देश्य परिषदों, नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं, रक्षा सेना आदि में सुधार करवाना था।

4. इस काल के अधिकांश कॉंग्रेसी नेताओं को अंग्रेजों की सत्यता एवं न्यायप्रियता में विश्वास था। उनका यकीन था कि अंग्रेज स्वयं स्वतंत्रता–प्रेमी हैं और जिस दिन उनको विश्वास हो जायेगा कि भारतीय स्वयं अपना शासन चला सकते हैं तो वे बिना किसी हिचक के भारतीयों को शासन सौंप देंगे।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कॉंग्रेस की स्थापना से 1905 ई० तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहा जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत के हित में समझते थे और ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करके भारत में प्रशासनिक तथा अन्य सुधार लाना चाहते थे।

आंदोलन का दूसरा चरण (1905–1918)

19वीं शताब्दी के अन्त में 20वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई जिनसे भारतीय नवयुवकों का उदारवादी नीति में विश्वास समाप्त हो गया और उग्रवादी तथा क्रान्तिकारी विचारधारा का उदय हुआ। इसके मुख्य चरणों में, प्रथम – सरकार द्वारा कॉंग्रेस की माँगों की उपेक्षा करना, दूसरा – भारत की आर्थिक अवस्था और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी आर्थिक नीति, तीसरा – 1876 से 1900 ई० तक

के समय में 18 बार अकाल आना और सरकार द्वारा इनकी ओर अधिक ध्यान न देना, चौथा – लार्ड एल्गिन की दमन नीति से असंतोष, पाँचवा – लार्ड कर्जन के शासन काल में कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट, युनिवर्सिटी, एक्ट, आफिशियल सीक्रेट एक्ट आदि पारित किये गये। लार्ड कर्जन की विदेश नीति भारत के हित में नहीं थी, वह भारतीयों को अयोग्य मानता था इसलिये उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त नहीं किया गया। बंगाल का विभाजन करके भारतीय राष्ट्रीयता को कमजोर करने की चेष्टा की गई। किन्तु इस विभाजन से जनता में सरकार की नीतियों के विरूद्ध उत्तेजना फैली और नवयुवकों में नई जाग्रति पैदा हुई, छठा – भारत में स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण, एनीबेसेन्ट आदि ने धार्मिक जागृति पैदा की और भारतीयों का ध्यान उनके प्राचीन गौरवमय अतीत की ओर आकर्षित किया। सातवाँ – ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था जिसके खिलाफ महात्मा गाँधी ने दक्षिणी अफ्रीका में आन्दोलन किया।

उक्त कारणों से भारतीय आन्दोलन में दो विचारधाराओं को जन्म मिल –

(i) उग्रवादी विचारधारा

(ii) क्रान्तिकारी विचारधारा

उग्र दल का काँग्रेस की नीति पर प्रभाव

उग्र दल का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय ने किया। काँग्रेस की अब तक चली आ रही नीति की इन्होंने कटु आलोचना की परिणामस्वरूप कांग्रेस में नरम दल और गरम दल दो गुट बन गए। 1905 ई० के बनारस अधिवेशन में दोनों गुटों में खुला संघर्ष हुआ। उग्रवादियों के प्रभावस्वरूप इस अधिवेशन में राजनीतिक सुधारों की मांग की गई। काँग्रेस की राजनीतिक भिक्षावृति पर गहरा प्रहार करके उसे समाप्त करने की चेष्टा की गई। 1906 ई० के कलकत्ता अधिवेशन में दोनों गुटों में खाई और अधिक बढ़ गई। दादा भाई नौरोजी को इंग्लैंड में बुलाकर इस अधिवेशन का सभापति बनाया गया। इस अधिवेशन में काँग्रेस ने 'स्वराज्य' अपना लक्ष्य घोषित किया। साथ ही स्वराज्य, स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थन में प्रस्ताव पास किये। 1907 के सूरत अधिवेशन में उदारवादियों और उग्रवादियों में सभापति के पद पर

गहरा मतभेद हो गया। परिणामस्वरूप उग्रवादी गुट कॉंग्रेस से बाहर हो गया। सूरत की इस फूट को श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कॉंग्रेस के इतिहास की सबसे शोकपूर्ण घटना कहा है।

महाराष्ट्र में तिलक के नेतृत्व में तथा बंगाल में विपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व में उग्रवादी आन्दोलन का विकास हुआ। भारतीयों में आत्म–विश्वास और आत्म–निर्भरता की भावना जगाने के लिये महाराष्ट्र में 'गणपति उत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' आरम्भ किये गये तथा बंगाल में विपिन चन्द्र पाल ने काली पूजा और दुर्गा पूजा आरम्भ की। बंगाल में उग्रवादी विचारधारा का प्रचार पुनरूत्थानवादी नेताओं ने धर्म की आड में किया। सम्पूर्ण देश में हिन्दू पुनरूत्थानवाद की लहर दौड़ गई।

स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार

उग्रवादी स्वदेशी आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। उन्होंने भारत में औद्योगिक विकास तथा आर्थिक सुधार के लिए स्वदेशी आन्दोलन को परम अस्त्र माना। लाला लाजपतराय ने स्वदेशी आन्दोलन के विषय में बताया कि इसी के द्वारा भारत का उद्धार सम्भव है। यह आन्दोलन हमें स्वाभिमानी तथा आत्मनिर्भर बनायेगा तथा इसी से हमें मनुष्यत्व प्राप्त होगा।

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का विचार पूरी तरह अंग्रेजों के विरोध में था। इसका अर्थ केवल विदेशी वस्तुओं का ही बहिष्कार करना नहीं था बल्कि सरकारी पदों, उपाधियों, परिषदों की सदस्यता तथा शिक्षण संस्थानों का बहिष्कार करना था। लाला लाजपतराय के अनुसार बहिष्कार सरकार के सम्मान की जड़ों को काटेगा।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार की गलत नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में उग्रवाद को जन्म मिला। उग्रवादी नेता ब्रिटिश साम्राज्य को भारत का शत्रु मानते थे तथा छुटकारा पाना चाहते थे। वे भिक्षावृति में विश्वास नहीं करते थे तथा स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। इनको अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं था। इसलिए राष्ट्र को संघर्ष के लिए तैयार करना चाहते थे। नवयुवकों में स्वाभिमान जगाने के लिए प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान को आधार बनाया। ब्रिटिश आर्थिक एवम् प्रशासनिक हितों को हानि पहुँचाने

के लिए बहिष्कार के सिद्धान्त को अपनाया। उनका विश्वास सक्रिय विरोध अथवा सत्याग्रह में था।

उग्रवादी आन्दोलन

उग्रवादी आन्दोलन के साथ ही भारत में क्रान्तिवादी आन्दोलन को जन्म मिला। इसके समर्थकों का क्रान्तिकारी साधनों में मुख्यतः बम, पिस्तौल द्वारा आतंक फैलाने में विश्वास था और ये राजनीतिक हत्याओं और राजनीतिक डकैतियों को उचित मानते थे। भारत में बंगाल, पंजाब, मद्रास, महाराष्ट्र आदि में इनके केन्द्र स्थापित किये गये। विदेशों में भी इसकी संस्थाओं की स्थापना की गई। इन्होंने बहुत से समाचार पत्रों को छापना शुरू किया जिससे बहुत से भारतीय प्रभावित हुए।

बंगाल विभाजन की प्रतिक्रियास्वरूप बंगाल में उग्रवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पुलिस अधिकारियों, मजिस्ट्रेटों तथा मुखबिरों को निशाना बनाना इनका मुख्य ध्येय था जिसके द्वारा ये ब्रिटिश शासन अधिकारियों में आतंक पैदा करना चाहते थे। भारतीयों के मस्तिष्क में दासना के प्रति घृणा उत्पन्न करना चाहते थे और उनके दिलों में देश प्रेम भरना चाहते थे। इन्होंने बम बनाने, राजनीतिक हत्याएँ करने तथा अपना आन्दोलन चलाने के लिए राजनीतिक डकैतियाँ डालने आदि को उचित माना तथा अपने कार्यक्रम में शामिल किया।

उग्रवादी आन्दोलन की प्रगति

क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रारम्भिक नेता वीरेन्द्र कुमार घोष तथा भूपेन्द्र नाथ दत्त थे। उन्होंने 'युगान्तर' और 'संध्या' नामक समाचार पत्रों से उग्रवाद का प्रचार किया। 'अनुशीलन–समिति' नामक संस्था की स्थापना की जिसकी करीब 200 शाखाएँ कलकत्ता तथा ढाका में थी। महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र नासिक में था। श्यामजी कृष्ण वर्मा, चापेकर बन्धुओं तथा सावरकर ने इस आन्दोलन को वहाँ पर संगठित किया। मद्रास में 1907 ई० में विपिन चन्द्र पाल के प्रयासों से यह विचारधारा बड़ी तेजी से फैली। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान इस आन्दोलन की काफी प्रगति हुई और इस बीच (1913–1916 ई०) बहुत सी हत्याएँ की गई। सरकार द्वारा आन्दोलन का दमन निर्दयतापूर्वक किया गया तथा बहुत से

भारतीयों को मृत्यु–दंड दिये गए। खुदीराम, चापेकर बन्धुओं आदि बहुत से शहीदों ने भारत को स्वतंत्र कराने के प्रयासों में प्राण न्यौछावर किये।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय

20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में यदि एक ओर उग्रवाद, आतंकवाद और उग्र हिन्दुवाद जैसी विचारधारा का जन्म हुआ तो दूसरी ओर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय मुख्य रूप से ब्रिटिश नीति, मुसलमानों में असन्तोष तथा हिन्दुओं की धार्मिक नीति जैसे कारणों के फलस्वरूप हुआ। अंग्रेजों ने भारत में मुसलमानों से शासन छीना और उनका हर प्रकार से दमन किया। परिणामस्वरूप सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उनका अत्याधिक पतन हुआ। अंग्रेजों ने आरम्भ से ही फूट डालो और शासन करों की नीति को अपनाया इसलिए शुरू में हिन्दुओं को और 1857 के बाद मुसलमानों को अपने पक्ष में लाने की चेष्टा की। वहाबी आन्दोलन में मुसलमानों ने अपने इस्लाम धर्म को पुनः पवित्रता देने की कोशिश की और अंग्रेजों के खिलाफ जिहाद को आरम्भ किया। सरकार ने इस आन्दोलन को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया लेकिन मुसलमानों में साम्प्रदायिक चेतना को न दबा सकी। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों ने मुसलमानों को और भी संगठित किया। ब्रिटिश सरकार ने अपनी कूट नीति द्वारा अपने को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच रखकर एक साम्प्रदायिक त्रिकोण की रचना करने का निश्चय किया। वे मुसलमानों से सम्पर्क बढ़ाने लगे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिए तथा मुसलमानों को अपने पक्ष में लेने के लिए अंग्रेजों ने 1905 में बंगाल का विभाजन किया। मुसलमानों में नई जागृति लाने में अलीगढ़ आन्दोलन का प्रमुख हाथ था। इस आन्दोलन के जन्मदाता सर सैय्यद अहमद खाँ थे। उनका विचार था कि मुसलमानों की दशा में सुधार अंग्रेजों की सहायता से ही सम्भव है। उन्होंने अलीगढ़ में 'मौहम्मडन' ऐंग्लो–ओरियन्टल कालिज की स्थापना की जो आगे चलकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ। इस कालिज के प्रिंसिपल बेक ने सर सैय्यद अहमद खाँ को इतना प्रभावित किया कि वह एक प्रगतिशील राष्ट्रवादी नेता से प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायवादी नेता में बदल गये और

उन्होंने भारतीय मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने से रोकने का प्रयास किया।

पृथक प्रतिनिधित्व की माँग

ब्रिटिश कूटनीति का खेल यहीं समाप्त नहीं हुआ। उन्होंने मुसलमानों के बहुत से संगठन बनवाये तथा उन्हें पृथक प्रतिनिधित्व माँगने के लिए उत्साहित किया। 1906 से सर आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल वायसराम लार्ड मिन्टों से मिला जिसने मुसलमानों के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँगों को सहर्ष स्वीकार किया। शिष्ट मंडल की माँग थी कि –

1. किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व में मुसलमानों के महत्व को उनकी संख्या से नहीं बल्कि उनकी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सेवाओं से आँका जाये।
2. प्रस्तावित सुधारों में उन्हें अपने प्रतिनिधियों को साम्प्रदायिक निर्वाचक मंडलों द्वारा चुनकर भेजने का अधिकार दिया जाये।
3. विभिन्न सेवाओं में मुसलमानों को अधिक प्रतिनिधित्व मिले।

लार्ड मिन्टों ने शिष्टमण्डल की माँगों को स्वीकार करके भारतीय राजनीति में सम्प्रदायवाद का बीजारोपण किया जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को न केवल पीछे धकेला अपितु आगे चलकर भारत का विभाजन किया।

मुस्लिम लीग की स्थापना

मुस्लिम शिष्टमंडल को शिमला में जो सफलता मिली उससे उन्हें बहुत उत्साह मिला। दिसम्बर 1907 में कराची में कुछ उच्च कोटि के मुस्लिम एकत्रित हुए जिन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुस्लिम लीग के संविधान में लीग के लक्ष्यों को घोषित किया गया कि इसका उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना को बढ़ाना है और सरकार के निश्चयों से सम्बन्धित सभी संदेहों को समाप्त करना है। भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि ब्रिटिश नीति ने भारत में एक साम्प्रदायिक संगठन को जन्म दिया जिसने भारतीय राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया। लार्ड मिन्टो

ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को माँगने के लिए मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन दिया और 1909 के सुधार अधिनियम में इसे स्थान दिया।

मार्ले–मिण्टो सुधार और उसके बाद

ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र होता जा रहा था। भारत में विभिन्न प्रकार की घटनाएँ हो रही थी और प्रशासनिक सुधारों की माँग उग्र होती जा रही थी अतः सरकार ने सुधार अधिनियम (Reform Act - 1909) पारित करके राष्ट्रीय नेताओं को संतुष्ट करना चाहा। किन्तु इस अधिनियम में जो कुछ दिया गया वह भारतीयों की आशाओं से बहुत कम था, साथ ही इसमें बहुत सी आपत्तिजनक चीजों को भी दिया गया। डॉ० जकारिया ने इस अधिनियम का विश्लेषण करते हुए कहा है कि इसमें एक ओर प्रगतिशील कदमों का समावेश किया गया था तो दूसरी ओर उन पर इतने बन्धन लगा दिये थे कि वे निरर्थक हो गए थे प्रजातांत्रिक निर्वाचन सिद्धान्त अप्रजातांत्रिक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व से जुड़ा हुआ था, सरकारी बहुमत को समाप्त कर दिया था फिर भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों में निर्वाचित सदस्य अल्पमत में थे। परिषदों की सदस्य संख्या तथा अधिकार क्षेत्र में वृद्धि की गई थी फिर भी संसदीय सरकार की स्थापना नहीं की गई थी। कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों को स्थान दिया फिर भी सत्ता अंग्रेजों के हाथ में रही।

भारत में इस अधिनियम की मिली–जुली प्रतिक्रिया हुई। यदि एक ओर उग्रवादी नेताओं ने इसकी आलोचना की तो दूसरी ओर उदारवादियों ने संतोष व्यक्त किया। उन्हें फिर से ब्रिटिश सरकार पर विश्वास होने लगा जिसे ब्रिटिश नीति ने पहले कम कर दिया था। 1911 ई० में सरकार द्वारा बंगाल का विभाजन समाप्त करने से उदारवादी और भी संतुष्ट हुए।

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ। ब्रिटिश संसद में भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति का उद्देश्य भारत में धीरे–धीरे उत्तरदायी सरकार की स्थापना है। भारत के उद्योगपतियों की सहायता प्राप्त करने के लिए सरकार ने सन् 1916 में कपास कर आयात कर $3^{1}/_{2}$ प्रतिशत स्वीकार किया जिससे भारत में सूती वस्त्र उद्योग के विकास में सहायता मिली।

भारत में इस युद्ध से दो प्रकार के विचार पैदा हुए। क्रांतिकारी तथा उग्रवादी इसे एक अच्छा अवसर मानकर ब्रिटेन की लाचारी का लाभ उठाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपना आन्दोलन तेज कर दिया। लाला लाजपतराय ने टर्की जाकर गदर पार्टी की स्थापना की। पुनः जर्मनी जाकर भारतीय राष्ट्रीय दल का संगठन किया। विदेशों से भारतीय क्रान्तिकारी भारत पहुंचे और यहाँ बंगाल, पंजाब, दिल्ली और महाराष्ट्र की क्रान्तिकारी समितियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। दूसरी ओर उदारवादी नेता ब्रिटेन को युद्ध में सभी प्रकार की सहायता देने के पक्ष में थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीयों द्वारा युद्ध में सहायता देना उचित बताया। महात्मा गाँधी, जो भारतीय राजनीति में पदार्पण कर चुके थे, भारत द्वारा सहयोग देने के पक्ष में थे।

होम रूल आन्दोलन

1914 ई० में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नये विचार को जन्म मिला। जिसने पिछले दो वर्ष के शिथिल आन्दोलन को फिर से तीव्र कर दिया। श्री जी०एन० सिंह के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने 'दमन और सुधार' की नीति अपना कर राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर कर दिया था। 1914 में बालगंगाधर तिलक जेल से छूटकर आए और उन्होंने उग्रवाद को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए। इसी वर्ष श्रीमती एनी बेसेन्ट भी राजनीति में शामिल हुई। उनको पहले से ही विश्वख्याति प्राप्त हो चुकी थी और उन्होंने अपने देश आयरलैंड में 'होम रूल लीग' की स्थापना की थी। उनका विश्वास था कि भारत में भी इस प्रकार का आन्दोलन चलाया जा सकता है किन्तु उसके लिए उग्रवादियों का सहयोग परम आवश्यक होगा। इसलिए उन्होंने पहले उदारवादियों तथा उग्रवादियों में समझौता कराने का प्रयास किया। सन् 1916 में वह अपने उद्देश्यों में सफल हुई और काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में उग्रवादी भी काँग्रेस में शामिल हो गये।

23 अप्रैल, 1916 को तिलक ने पूना में होम रूल लीग की स्थापना की। 6 महीने बाद श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास में अखिल भारतीय होम रूल लीग की स्थापना की। बाद में दोनों नेताओं ने मिलकर इस आन्दोलन को चलाया। इस आन्दोलन के

उद्देश्यों में घोषित किया गया कि होम रूल आन्दोलन एक अधिकारपूर्ण माँग की अभिव्यक्ति करता है। भारत के लिए स्वशासन की माँग कोई भीख नहीं है अपितु स्वशासन की प्राप्ति भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार है। तिलक ने कहा कि होम रूल मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।

1917 में होम रूल आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया था। यद्यपि यह शान्तिपूर्ण और वैधानिक आन्दोलन था फिर भी सरकार ने इसका बुरी तरह से दमन किया और उसके नेताओं का गिरफ्तार करना शुरू किया। जनता ने इसका विरोध किया। काँग्रेस ने ब्रिटिश नीति की आलोचना की तिलक ने सत्याग्रह करने की धमकी दी। सरकार ने इसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं समझा क्योंकि उसे भारतीयों की सहायता की आवश्यकता थी। अतः उसने भारत मंत्री माण्टेग्यू की घोषणा द्वारा इच्छा व्यक्त की कि युद्ध के बाद भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायेगी। इस प्रकार इस आन्दोलन ने न केवल भारत को सोने से जगाया बल्कि सरकार को नई सुधार योजना लागू करने के लिए बाध्य किया।

काँग्रेस लीग पैक्ट

सन् 1916, राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इस वर्ष काँग्रेस और मुस्लिम लीग में लखनऊ अधिवेशन में समझौता हुआ। इस समझौते के कई कारण थे जैसे (i) लीग में राष्ट्रवादी नेताओं का शामिल होना और उनके दिल में भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करने की भावना, (ii) ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन और काँग्रेस के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाना, (iii) पान–इस्लामिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप भी भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई, (iv) मुस्लिम लीग का आफिस लखनऊ बन गया था इसलिए वह अलीगढ़ के कुप्रभाव से पृथक हो गई थी।

राष्ट्रवादी और प्रगतिशील विचारधारा के बहुत से मुस्लिम नेता लीग के सदस्य बन गये थे इसलिये 1913 से ही लीग के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन हो गया था। 1913 में उसने प्रस्ताव पास किया कि लीग का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना है। 1914 और 1915 के अधिवेशनों में लीग ने भारतीय नेताओं के साथ मिलकर

कार्य करने की इच्छा व्यक्त की। इस परिवर्तन के लिए श्री मोहम्मद अली जिन्हा मुख्य रूप से उत्तरदायी है। परिणामस्वरूप सन् 1916 में कॉंग्रेस तथा लीग के साथ अधिवेशन लखनऊ में पहुँचे जिनमें दोनों संगठनों के बीच समझौता हुआ जिसे लखनऊ समझौता भी कहते हैं। इस समझौतें में राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। अब हिन्दू और मुस्लिम मिल कर भारत के लिये स्वराज्य प्राप्त करने को अग्रसर हुए।

माण्टेग्यू की घोषणा और लिबरल फेडरेशन की स्थापना

भारत सचिव माण्टेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 को घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार की नीति यह है कि भारत में शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे–धीरे विकास हो जिससे अधिकाधिक प्रगति करके स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में रहे।

उदारवादियों ने इस घोषणा का स्वागत किया और इसे भारतीय संवैधानिक विकास में एक कड़ी माना। उग्रवादी नेताओं ने इसका विरोध किया। श्रीमती बेसेन्ट ने कहा कि इंग्लैण्ड के लिए ऐसी योजना प्रस्तुत करना अनुदार था तथा भारत के लिये इसे स्वीकार करना अनुचित था। सन् 1918 में इस घोषणा पर विचार करने के लिए कॉंग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया जिसमें उदारवादी शामिल नहीं हुए और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में लिबरल फेडरेशन की स्थापना की गई। एक बार फिर कॉंग्रेस में फूट हुई, उग्रवादी और उदारवादी फिर से अलग हो गये।

राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण (1918–1935)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण आन्दोलन के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण चरण माना जाता है। इस चरण में राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत से प्रमुख लक्षणों को जन्म मिला है, बहुत से नये संगठनों का उदय हुआ है और बहुत सी महत्वपूर्ण घटनाओं के होने से कॉंग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' अपना ध्येय घोषित किया है। इस चरण के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार हैं –

1. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन जो अभी तक उच्च और माध्यम वर्ग की जनता तक सीमित था, वह इस चरण में आम जनता तक पहुँच गया और उसके संघर्ष

करने के विभिन्न तरीकों में बहुत से नये–नये तरीके शामिल हो गये, जैसे असहयोग करना, सविनय अवज्ञा आन्दोलन या जनता का सीधा संघर्ष।

2. युद्ध के समय और उसके बाद की बहुत सी घटनाओं ने राष्ट्रीय जागृति को पैदा किया और अधिकांश भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध संघर्ष करने को तैयार किया। 1919 ई० के अधिनियम में दिये गये सुधारों में अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं को असन्तुष्टि थी उनको ऐसा महसूस हुआ कि सरकार ने उन्हें धोखा दिया हो। युद्ध के बाद भारत में आर्थिक संकट पैदा हुआ। वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये तथा आवश्यक वस्तुओं का मिलना बन्द हो गया। सेना से छटनी किये हुए बहुत से नवयुवक बेकार हो गये थे और उन्हें रोजगार नहीं मिल पा रहा था।

3. सरकार दमनकारी नीति अपना रही थी। एक ओर तो वह सुधारों का आश्वासन दे रही थी और दूसरी ओर आन्दोलन को कुचलने के लिए प्रेस एक्ट, सेडीशन एक्ट, एक्सप्लोजिव सब्सटेन्स एक्ट, क्रिमिनल लॉ ऐमेण्डमेण्ट एक्ट आदि दमनकारी कानूनों का निर्माण कर रही थी। क्रान्तिकारियों को फाँसी, काला पानी और कारावास की सजा दी जा रही थी। परिणामस्वरूप भारत के सभी वर्गों–शिक्षित, पूँजीपति, किसान और मजदूरों में असन्तोष और विद्रोह की भावना पनप रही थी।

4. अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, जैसे योरोपीय देशों में विभिन्न प्रजातान्त्रिक क्रान्तियाँ और रूस में समाजवादी क्रान्ति ने भारतीयों की चेतना को झकझोर दिया। सेवरेज की संधि ने भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजों से नाराज कर दिया और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ लड़ने को प्रेरित किया।

5. युद्ध–काल में भारतीय उद्योगों के प्रसार से भारतीय पूँजीपति आर्थिक रूप में मजबूत हो गये थे। काँग्रेस द्वारा अपनाये गये स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार ने इन पूँजीपतियों के आर्थिक विकास को और अधिक सहयोग दिया। अतः यह पूँजीपति वर्ग काँग्रेस को वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा था। गाँधी जी द्वारा वर्ग–सहयोग सामाजिक शान्ति और कलकत्ता

अधिवेशन में 'स्वदेशी' के विषय में प्रस्ताव पास करना आदि से उद्योगपतियों ने गाँधीजी और उनके आन्दोलन को पूरा समर्थन देना शुरू कर दिया। इस काल में काँग्रेस की नीतियों और आन्दोलन के तरीकों को उद्योगपतियों का वर्ग प्रभावित करने लगा था। श्री ए०आर० देसाई के शब्दों में ''It was from 1918 that the Indian industrial bourgeoisie began to exert a powerful influence in determining the programmes, policies, strategies, tactics and form of struggle, of the Indian Nationalist Movement led by the Congress of which Gandhi was the leader.''

6. आन्दोलन के इस काल मे समाजवादी और साम्यवादी संगठनों का उदय हुआ। सन् 1928 तक ये संगठन स्वतंत्र रूप से श्रमिक वर्ग के राजनीतिक और ट्रेड यूनियन आन्दोलन चलाने लगे। सन् 1926 के बाद भारतीय श्रमिक वर्ग एक राजनीतिक इकाई के रूप में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगा।
7. इसी काल में बहुत से प्रतिक्रियावादी और सम्प्रदायवादी गुटों का जन्म हुआ और बहुत से साम्प्रदायिक दंगे हुए।
8. राष्ट्रीय काँग्रेस ने इसी चरण में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' से अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज्य' घोषित किया।

असहयोग आन्दोलन

प्रथम युद्ध के बाद भारत में विभिन्न कारणों के फलस्वरूप साम्राज्य विरोधी भावना बड़ी तीव्र गति से फैल रही थी। सरकार किसी भी परिस्थिति का सामना करने की तैयारी कर रही थी। इसी उद्देश्य से बहुत से दमनकारी कानूनों को पारित किया गया। भारतीय सुरक्षा अधिनियम की समाप्ति पर सरकार इसी प्रकार का कोई अधिनियम चाहती थी। अतः उसने 'रौलेट बिल' विधानपालिका में पेश किया और विरोध के बावजूद इसे कानून बनाया। इससे भारतीयों को बहुत क्षोभ हुआ। इसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये बंदी बनाया जा सकता था।

महात्मा गाँधी द्वारा नेतृत्व सम्भालना

रौलेट एक्ट के बनने से गाँधीजी राजनीति के मंच पर आगे आये। वह ब्रिटिश सरकार से सहयोग में विश्वास रखते थे किन्तु इस अधिनियम के बनने से वह भी

विद्रोह कर उठे। उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय किया और 30 मार्च की तिथि भी घोषित कर दी, जिसे बाद में बदलकर 6 अप्रैल कर दिया। बहुत सी जगह बदली हुई तिथि की खबर तक नहीं पहुँच सकी। गाँधीजी इस सत्याग्रह को शान्तिपूर्ण तरीकों से चलाना चाहते थे किन्तु बहुत से स्थानों पर हिंसात्मक झगड़े हुए जिससे गाँधीजी ने सत्याग्रह वापस ले लिया।

पंजाब में सरकार द्वारा दमन

गाँधीजी द्वारा सत्याग्रह आन्दोलन वापस लेने पर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया तथा दमन–चक्र चालू कर दिया। पंजाब के गवर्नर ने स्थिति को काबू में रखने के लिये वहाँ के नेता डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल को बन्दी बनाकर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। अमृतसर में जनता ने उत्तेजित होकर जलूस निकाला। जलूस शान्तिपूर्ण था किन्तु पुलिस ने उस पर गोली चलाई जिससे कई व्यक्ति मरे और बहुत से घायल हुए। परिणामस्वरूप जनता ने भी कई अंग्रेजों की हत्या की और सार्वजनिक भवनों को आग लगा दी।

जलियाँवाला बागकांड

12 अप्रैल को सरकार ने शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया किन्तु इस आदेश की पूरी जानकारी जनता को नहीं दी गई। 13 अप्रैल को वैशाखी के दिन सरकार की नीतियों का विरोध करने के लिए अमृतसर की जनता ने जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा की, जिसमें स्त्री और बच्चे भी शामिल थे। सभा शान्तिपूर्वक चल रही थी किन्तु जनरल डायर ने 150 सिपाहियों को साथ ले उस पर गोलियों की बौछार करा दी जिससे लगभग 400 आदमी मरे और करीब 1200 घायल हुए जिन्हें वहीं छोड़ दिया गया।

इस अमानुषिक कार्य के बाद पंजाब के पाँच जिलों में सैनिक शासन लागू कर दिया गया और जनता के साथ दुर्व्यवहार किये गये। घटना की जाँच करने के लिए हुण्टर कमेटी नियुक्त की गई। जिसने पक्षपातपूर्ण रिपोर्ट देकर अधिकारियों के कार्यों पर पर्दा डालने की कोशिश की। काँग्रेस ने इस काँड की स्वयं जाँच कराई जिसमें

अधिकारियों की घोर निन्दा की गई। महात्मा गाँधी पर इस घटना का ऐसा प्रभाव हुआ कि वह सरकार के कट्टर असहयोगी बन गये।

खिलाफत आन्दोलन

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सेवरेज की संधि द्वारा टर्की साम्राज्य का विभाजन किया गया। उसके कुछ प्रान्त स्वतंत्र कर दिये गये और कुछ ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकार में आ गये। इससे भारतीय मुसलमानों को बहुत क्षोभ हुआ क्योंकि टर्की का सुल्तान संसार के मुसलमानों का खलीफा था। भारत में अंग्रेजों की इस नीति के विरोध में मुस्लिम लीग तथा अन्य मुस्लिम सम्प्रदायों ने खिलाफत आन्दोलन आरम्भ किया। महात्मा गाँधी ने इसे सफल बनाने का प्रयास किया और इसका नेतृत्व किया।

ऊपर दिये कारणों से काँग्रेस की नीति पर बहुत प्रभाव हुआ और गाँधीजी के नेतृत्व में उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये। नागपुर अधिवेशन (1920) में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पूर्ण बहुमत से स्वीकृत किया गया। काँग्रेस का उद्देश्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति घोषित किया गया। अभी तक काँग्रेस का विचार ब्रिटिश साम्राज्य में रह कर ही स्वराज्य प्राप्त करना था किन्तु अब घोषित किया गया कि स्वराज्य उससे बाहर भी प्राप्त किया जा सकता है। स्वराज्य प्राप्त करने के साधनों में भी परिवर्तन किये गये। अभी तक काँग्रेस केवल संवैधानिक साधनों का ही प्रयोग कर सकती थी। किन्तु नागपुर अधिवेशन में घोषित किया गया कि इनके अतिरिक्त अन्य साधनों का भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वह भी शान्तिपूर्ण तरीके से।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम

असहयोग आन्दोलन में निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किये गये –

1. सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक पदों का त्याग और स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्यों को अपने–अपने पदों को रिक्त करना।
2. सरकारी दरबारों, उत्सवों तथा सरकार के सम्मान में आयोजित कार्यक्रमों में शामिल न होना।
3. सरकारी स्कूलों और कॉलिजों को त्यागना तथा राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलिजों की स्थापना करना।

4. सरकारी अदालतों का बहिष्कार करना तथा उनके स्थान पर पंचायतों की स्थापना करना।

5. कौंसिलों का बहिष्कार करना।

6. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी का प्रचार करना।

आन्दोलन की प्रगति

गाँधीजी ने सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके जनता को अपने कार्यक्रम से अवगत कराया और 1921 में असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। सैकड़ों व्यक्तियों ने उपाधियाँ त्याग दी। बहुत से छात्रों ने स्कूलों को छोड़ा तथा वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया। मादक वस्तुओं के खिलाफ आन्दोलन किये गये। राष्ट्रवादी नेताओं ने विधान सभाओं का बहिष्कार किया। आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि हर जगह हिन्दू–मुस्लिम की जय के नारे लग रहे थे। उन्हीं दिनों प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आये जिनका हर जगह हड़ताल से स्वागत हुआ। सरकार गाँधीजी से समझौता करना चाहती थी किन्तु उन्होंने मना कर दिया। इस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि सम्पूर्ण भारत अर्थात् भारत के सभी वर्ग सरकार का विरोध कर रहे थे। यह जनता का आन्दोलन था।

सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के लिए सभी प्रकार के उपाय किये। सारे देश में गिरफ्तारियाँ की गई। लाठी चार्ज और गोली काँड सरकार के लिये मामूली चीज बन गई थी। काँग्रेस को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

सरकार द्वारा दमन किये जाने के विरोध में अहमदाबाद अधिवेशन में काँग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। गाँधीजी ने वायसराय को चेतावनी दी कि यदि उसने 7 दिन के अन्दर दमन नीति में परिवर्तन नहीं किया तो 'कर न दो' आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायेगा। अभी 7 दिन बीते भी नहीं थे कि गोरखपुर जिले में चौरी–चोरा नामक स्थान पर उत्तेजित भीड़ ने 21 सिपाहियों और एक थानेदार को

थाने में जिन्दा जला दिया। गाँधीजी के अनुभव किया कि आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप ले लिया है तो उन्होंने आन्दोलन वापिस ले लिया।

गाँधी द्वारा इस प्रकार आन्दोलन वापस लेने के कदम को बहुत से नेताओं ने गलत माना। मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सी०आर० दास, सुभाषचन्द्र बोस, लाजपत राय, अली बंधुओं आदि ने इसे गाँधीजी की जल्दबाजी का कदम बताया। वास्तव में गाँधी जी ने आन्दोलन ऐसे समय में वापिस लिया जबकि जनता का मनोबल बहुत ऊँचा था। इसने भारत के इतिहास को ही नई दिशा दे दी। आन्दोलन के इस प्रकार स्थगित करने से गाँधीजी की लोकप्रियता बहुत कम हो गई और इसका लाभ उठाकर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। असहयोग आन्दोलन तो समाप्त हो गया किन्तु इसने भारतीयों में नई चेतना और देश–प्रेम जाग्रत किया। जनता में स्वदेशी वस्तुओं का प्रेम पैदा किया। रचनात्मक पक्ष में बहुत से राष्ट्रीय कॉलिजों को खोला गया। इस आन्दोलन ने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों पर कुठाराघात किया और भारतीयों को एक प्रोग्राम दिया।

स्वराज्य दल की स्थापना

1922 ई० में असहयोग आन्दोलन के अचानक स्थगित होने से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अनिश्चिता और गतिहीनता आ गई। अधिकांश नेता गाँधीजी के इस कार्य से क्षुब्ध थे। परिणामस्वरूप काँग्रेस पार्टी में फिर से फूट नजर आने लगी। इस वातावरण में दो प्रकार की विचारधाराएँ सामने आई। कुछ लोगों का मत था कि आगामी चुनावों में भाग लेकर कौंसिलों में पहुँचा जाये और वहाँ उन्हें अन्दर से तोड़ा जाये। दूसरी तरफ कुछ लोग काँग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे और असहयोग आन्दोलन के रचनात्मक कार्यक्रम को ही आगे बढ़ाना चाहते थे। पहली विचारधारा के नेता सी०आर० दास, मोतीलाल नेहरू तथा बी०जे० पटेल थे। सन् 1922 में गया में काँग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया। सी०आर० दास ने अध्यक्ष पद से अपनी नीति को प्रस्तुत किया जिसे गाँधीवाद विचारकों ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप दास और मोतीलाल नेहरू ने काँग्रेस से त्यागपत्र देकर सन् 1923 में स्वराज्य दल के गठन की घोषणा की। इस तरह काँग्रेस दल के फिर से दो गुट बनने की सम्भावना हो

गई लेकिन मौलाना आजाद के प्रयासों के फलस्वरूप सितम्बर 1923 में एक विशेष अधिवेशन दिल्ली में बुलाया गया जिसमें प्रस्ताव पास करके स्वराज्य दल के प्रोग्राम को स्वीकार किया गया और उन्हें कौंसिलों के लिए चुनाव लड़ने की आज्ञा दे दी गई।

स्वराज्य दल का मुख्य उद्देश्य सन् 1919 के सुधार अधिनियम को असफल बनाना था। उनका विचार था कि कौंसिलों में प्रवेश करके बजट को फेल किया जाये तथा उन कानूनों को न बनने दिया जाये जिनसे सरकार की शक्तियाँ अधिक होती हों। उन कानूनों को बनवाने का प्रयास किया जाये जिनके द्वारा राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यों में सहायता प्राप्त हो।

स्वराज्यवादियों ने निर्वाचन में भाग लिया। बंगाल और मध्यप्रदेश में उन्हें आंशातीत सफलता प्राप्त हुई। अन्य प्रान्तों में भी यह सबसे बड़े दल के रूप में विजयी रहा। आरम्भ में इसने सरकार के साथ असहयोग व अड़गे की नीति अपनाई किन्तु बाद में 'उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग' की नीति आरम्भ कर दी। 1925 में देशबन्धु दास की मृत्यु से दल को बहुत धक्का पहुँा और धीरे–धीरे इसके नेता सरकार के साथ सहयोग करने लगे। फलस्वरूप यह दल कमजोर हो गया और इसका आकर्षण समाप्त हो गया।

साइमन कमीशन (1927)

सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय व्यवस्था में अन्य सुधारों के विषय में सिफारिश करने के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन के उद्देश्य तथा सदस्यता से भारतीयों को बहुत क्षोभ हुआ और कॉंग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और लिबरल फेडरेशन ने इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया। 3 फरवरी, 1929 को जब यह कमीशन भारत पहुँचा तो सारे देश में हड़ताल मनाई गई। जगह–जगह पर इसके विरोध में जलूस निकाले गये। पुलिस ने आन्दोलनकर्त्ताओं के साथ कई जगह अमानुषिक व्यवहार किये। इस अवसर पर क्रान्तिकारी फिर से सक्रिय हो गये। सरदार भगत सिंह और बटु–केश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम विस्फोट किये। कमीशन ने इस वातावरण में अपनी जॉंच–पड़ताल की और सन् 1930 में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन का सभी संगठनों ने बहिष्कार किया और उसका विरोध किया। ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन में भारतीयों को शामिल न करने का कारण उनके आपसी मतभेद बताया। लार्ड बर्केनहेड ने ब्रिटिश संसद में कहा कि भारतीयों में साम्प्रदायिक मतभेद हैं और उसने चुनौती दी कि वे कोई ऐसा संविधान बनाकर दिखाये जो भारत के सभी वर्गों को मान्य हो। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और फरवरी, 1928 को एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया। भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए नेहरू कमेटी का गठन किया गया। इसने तीन महीने के परिश्रम के बाद एक रिपोर्ट तैयार की। रिपोर्ट के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार थे –

1. भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाये।
2. केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाये।
3. केन्द्र और प्रान्तों में शक्ति–विभाजन किया जाये।
4. पृथक निर्वाचन के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया जाये और अल्संख्यक वर्ग के लिये सीटों को सुरक्षित किया जाये।
5. मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया जाये आदि।

नेहरू रिपोर्ट को विभिन्न राजनीतिक दलों के विभिन्न रूप में देखा। काँग्रेस के युवक दल ने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' पर आपत्ति की। मि० जिन्ना इसे संशोधित करने की माँग कर रहे थे और उन्होंने विकल्प के रूप में 'चौदह सूत्रीय कार्यक्रम' दिया। राष्ट्रवादी मुसलमानों का एक गुट, जिसके नेता सर मुहम्मद शफी थे, इसे पूरी तरह अस्वीकार करना चाहता था। ब्रिटिश सरकार ने इसे अत्याधिक प्रगतिशील माना। फिर भी नेहरू रिपोर्ट भारतीय संवैधानिक विकास के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण प्रलेख है। भारत का वर्तमान संविधान इस पर बहुत कुछ आधारित है।

राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी और समाजवादी विचारधाराओं का उदय

सन् 1927 से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी और साम्यवादी संगठनों का उदय आरम्भ हुआ। समाजवादी विचारकों ने नेहरू रिपोर्ट की इस आधार पर आलोचना की कि उसमें पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य को छोड़ दिया गया है। 1928 और

1929 ई० में श्रमिक वर्ग में वर्ग–चेतना का विकास हुआ और उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनों में अपने झण्डे और अपने नेता के नेतृत्व में भाग लिया। इस प्रकार ये एक राजनीतिक इकाई का रूप लेने लगे। सन् 1928–29 में देशव्यापी श्रमिक आन्दोलन हुए।

1928 में कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें सुभाष और जवाहरलाल नेहरू ने नेहरू रिपोर्ट में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' पर आपत्ति उठाई और उसके स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की माँग की। गाँधीजी द्वारा प्रयास करने पर निश्चित किया गया कि यदि ब्रिटिश सरकार नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करती तो काँग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य घोषित कर दिया जायेगा। इस अधिवेशन की सबसे आश्चर्यजनक घटना यह थी कि कलकत्ता की मिलों के करीब 50 हजार श्रमिक जलूस बनाकर अधिवेशन में आये, पंडाल में लगभग दो घण्टे रहे और उन्होंने भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया। इसी समय में कृषक और मजदूर पार्टी ने अपना अखिल भारतीय सम्मेलन कलकत्ता में किया और भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य, देशी रियासतों की समाप्ति, जमींदारी प्रथा की समाप्ति मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और मजदूरों के काम करने का समय आठ घण्टे तथा अन्य माँगों के साथ प्रस्ताव पास किया।

सरकार ने इस प्रकार के आन्दोलनों को साम्राज्य के लिये बहुत बड़ा खतरा माना तथा इन्हें दबाने के लिए बहुत से कानून पास किये। 1929 में सरकार ने बहुत से लोगों को गिरफ्तार किया जिनमें सरदार भगत सिंह और दत्त की गिरफ्तारी उल्लेखनीय है। इन्हें केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम विस्फोट करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया। कलकत्ता में सुभाष चन्द्र बोस तथा काँग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार किया गया।

संक्षेप में कह सकते हैं कि इस काल में देश का राजनीतिक वातावरण बहुत खराब था और काँग्रेस तथा अन्य समाजवादी एवं मजदूर संगठनों की निश्चित नीतियों से सरकार को बहुत अधिक परेशानी थी। वह दमनकारी नीति का अनुसरण कर रही थी। लार्ड इरविन ने यह तो घोषित किया कि भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान

किया जायेगा किन्तु 23 दिसम्बर, 1929 को जब गाँधी अपने अन्य सहयोगियों के साथ लार्ड डरविन से मिले तो वह यह आश्वासन प्राप्त नहीं कर सके कि गोल मेज सम्मेलन में भारत के लिए औपनिवेश्कि संविधान का निर्माण होगा। इससे भारतीय जनता को बड़ी निराशा हुई और सारे देश में विरोध की भावना फैल गई।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

लाहौर अधिवेशन

पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में, एक उत्तेजनापूर्ण वातावरण में दिसम्बर 1929 को काँग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। इसमें काँग्रेस ने अपना उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य घोषित किया। काँग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि 26 जनवरी प्रतिवर्ष स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाये।

आन्दोलन का आरम्भ

काँग्रेस समिति ने आन्दोलन चलाने के पूरे अधिकार गाँधीजी को सौंप दिये। उन्होंने आन्दोलन का कार्यक्रम तैयार किया और 12 मार्च 1930 को साबरमती से समुद्र तट के एक गाँव दंडी की नमक कानून तोड़ने के लिये यात्रा आरम्भ की। गाँधीजी के साथ 79 अन्य साथियों ने यात्रा में भाग लिया। इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारतीयों में उत्तेजना बढ़ती जा रही थी और मनुष्यों के हृदय में देशप्रेम की भावना इतनी तेजी से बढ़ रही थी जितनी पहले कभी नहीं देखी गई। 9 अप्रैल को गाँधीजी ने देश के सामने निम्न कार्यक्रम रखा –

''प्रत्येक गाँव निषिद्ध नमक को प्राप्त करे या बनाये। बहनें शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों और विदेशी वस्तुओं के विक्रेताओं के सामने धरना दें। विदेशी वस्त्र जलाये जायें। हिन्दू छुआछात छोड़ें। छात्र सरकारी स्कूलों को छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी छोड़ दें।'' 5 मई को गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। आन्दोलन के कार्यक्रम में 'कर न देने' को भी शामिल कर लिया गया।

आन्दोलन की प्रगति

सम्पूर्ण भारत में आन्दोलन की लपटें फैलने लगी। कार्यक्रम को पूरी तरह से लागू किया गया। कलकत्ता, बम्बई आदि अनेक स्थानों पर पूर्ण हड़ताल रही। स्त्रियों ने आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। किसानों व मजदूरों ने कर न देना, कानून तोड़ना आरम्भ किया तथा हड़ताल आदि में खुले दिल से भाग लिया। गुजरात, मद्रास, पंजाब और यू०पी० में 'वन नियम' तथा 'कर देना' आदि का बहिष्कार पूरी तरह से किया गया। आन्दोलन अधिकांश रूप में शान्तिपूर्ण रहा किन्तु कहीं–कहीं पर अप्रिय घटनाएँ भी हुई, जैसे चटगाँव में क्रांतिकारी व्यक्तियों ने पुलिस पर हमला बोल दिया, शोलापुर में पुलिस तथा आन्दोलनकर्ताओं में संघर्ष हुआ। पेशावर में प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने गोली चलाई।

सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिये बहुत से कानून और अध्यादेश लागू किए। जलूसों और सभाओं को तितर–बितर करने के लिये पुलिस ने निर्ममता से लाठियाँ चलाई। बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ की गई। कर न देने वालों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। औरतों को गिरफ्तार किया गया तथा उन पर जुल्म किये गये। काँग्रेस के अधिकांश नेताओं को जेलों में भेज दिया गया।

12 नवम्बर, 1930 को पहला गोल मेज सम्मेलन आरम्भ हुआ जिसमें काँग्रेस ने भाग नहीं लिया। सम्मेलन की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने आशा व्यक्त की कि दूसरे सम्मेलन में काँग्रेस भी आवश्यक रूप से शामिल होगी। लार्ड इरविन ने जनवरी 1931 में गाँधीजी तथा काँग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को जेल से रिहा करने के आदेश दिये। गाँधीजी और वायसराय के बीच अच्छे वातावरण में वार्तालाप हुआ और दोनों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें गाँधी–इरिवन पैक्ट कहते हैं। इसके अनुसार सरकार ने स्वीकार किया कि वह दमन नीति बन्द करेगी, हिंसात्मक अपराधों के बंदियों के अलावा अन्य समस्त राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया जायेगा, जब्त की गई सम्पति वापस कर दी जायेगी और शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शान्तिपूर्वक पिकेटिंग करने की आज्ञा दी जायेगी। दूसरी और गाँधीजी ने स्वीकार किया कि वह आन्दोलन को स्थगित कर देंगे, गोल मेज सम्मेलन में भाग लेंगे और

पुलिस की कार्यवाहियों की निष्पक्ष जाँच की माँग नहीं करेंगे। गाँधीजी ने यह भी स्वीकार किया कि वह भारत के हित में संरक्षणों तथा रक्षा कवचों के सहित उत्तरदायित्व के आधार पर गोल मेज सम्मेलन में भाग लेने को तैयार हैं।

करांची अधिवेशन में इस समझौते को स्वीकृति दी गई। वामपंथी राष्ट्रीय नेताओं ने इसकी आलोचना की और कहा कि यह काँग्रेस के पूर्ण स्वराज्य के उद्देश्य का विरोध करता है। गाँधीजी की भी आलोचना की गई और उन्हें काले झण्डे दिखाये गये। काँग्रेस का नवयुवक वर्ग इसलिए नाराज था कि गाँधीजी सरदार भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को नहीं बचा सके। करांची अधिवेशन में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया जिसके अन्तर्गत भारतीयों को नागरिक स्वतंत्रताएँ प्रदान किये जने पर जोर दिया। प्रस्ताव में, मुख्य उद्योगों को राष्ट्रीयकरण, श्रमिकों को जीवन की उचित व्यवस्थाएँ, भूमि सुधार, निःशुल्क शिक्षा और व्यस्क मताधिकार की माँगे शामिल थी।

गाँधीजी काँग्रेस की ओर से दूसरे गोल मेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन गये किन्तु वहाँ से खाली हाथ लौटे बम्बई लौटने पर उन्होंने देखा कि उनके समझौते की सभी शर्तो को सरकार ने तोड़ दिया था और भारत में दमन नीति का शासन चल रहा था। गाँधीजी ने वायसराय लार्ड विलिंगडन से मिलना चाहा किन्तु वायसराय ने मना कर दिया। गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः चलाने का निश्चय किया किन्तु इस बार सरकार पूरी तरह से तैयार थी। 4 जनवरी, 1932 को गाँधीजी को कुछ अन्य साथियों के साथ बन्दी बना लिया गया।

यद्यपि इस बार भी जनता ने पूरे जोश के साथ आन्दोलन चलाया और इतने लोगों ने भाग लिया जितना पहले कभी नहीं लिया था। किन्तु सरकार ने कठोर दमन चक्र से इसे दबा दिया। लगभग 80 हजार व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। इसी बीच जुलाई में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की जिसमें अल्पसंख्यकों के पृथक निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। गाँधीजी ने इसका विरोध किया क्योंकि यह भारतीय एकता के लिए हानिकारक था। उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ किया। गाँधीजी की हालत खराब देखकर देश के नेताओं ने पूना में एक समझौता किया गया जिसे पूना पैक्ट कहा जाता है। संयुक्त प्रतिनिधित्व

को स्वीकार किया गया किन्तु सुरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा दी गई। गाँधीजी ने मई 1933 में पुनः व्रत आरम्भ किया। सरकार ने गाँधीजी को मुक्त कर दिया और काँग्रेस ने गाँधीजी के व्रत के कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण (1935–1947)

1935 ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम ब्रिटिश शासन काल के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम संवैधानिक कदम माना जाता है। भारत के वर्तमान संविधान में बहुत से उपबन्धों को तो 1935 के अधिनियम में वाक्यांशतः ले लिया गया है। इस अधिनियम ने भारत की शासन–व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन किये, जैसे संघीय व्यवस्था, केन्द्र में शासन, प्रान्तीय स्वराज्य और संघीय न्यायालय की स्थापना आदि।

भारत में अधिकांश राजनीतिक दल 1935 के अधिनियम के विरूद्ध थे फिर भी उन्होंने नई प्रान्तीय व्यवस्था को प्रयोग में लाने की स्वीकृति दे दी। काँग्रेस, मुस्लिम लीग तथा उदारवादियों ने इस विषय पर अपनी सहमति प्रकट की और चुनाव लड़ने की तैयारियाँ की।

सन् 1936 के लखनऊ अधिवेशन में पं० जवाहरलाल नेहरू ने भारत की स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाली सभी शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की। राष्ट्रीय आन्दोलन को जन–आधार प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने ट्रेड यूनियन और किसान सभा को भी काँग्रेस से सम्बन्धित करने पर बल दिया। काँग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया किन्तु जन–संपर्क बढ़ाने के लिए एक कमेटी का गठन किया गया। इस समय तक भारत में बहुत से प्रगतिशील संगठनों को जन्म मिल चुका था। किसान सभा पहले ही बन चुकी थी जो क्रान्तिकारी सुधारों की माँग कर रही थी।

काँग्रेस ने लखनऊ अधिवेशन में चुनाव लड़ने की घोषणा की और उसी वर्ष दूसरा अधिवेशन बुलाकर यह प्रस्ताव पारित किया कि वह प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना चाहती है, 'जिसकी स्थापना वयस्क मताधिकार के आधार पर बुलाई हुई संवैधानिक सभा के द्वारा हो सकती है। काँग्रेस ने अपना चुनाव घोषणा–पत्र घोषित

किया जिसमें नागरिक अधिकार, स्त्री–पुरुष की समानता, भूमि–सुधार, राजस्व प्रणाली में सुधार, अनुत्पादक भूमि पर से लगान की छूट, सामाजिक और आर्थिक असमानता की समाप्ति, उद्योगों के श्रमिकों का जीवन–स्तर तथा कार्य करने का समय एवम् परिस्थितियाँ, कुटीर उद्योग–धन्धों का विकास, बड़े उद्योग धन्धों को संरक्षण आदि उद्देश्य निहित थे।

चुनाव में काँग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। छः प्रांतों में उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और बंगाल तथा आसाम में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में पहुँची। पद स्वीकार करने से पूर्व उसने सरकार से आश्वासन माँगा कि गवर्नर दिन प्रतिदिन के कार्यों में अनुचित दखल नहीं देंगे। वायसराय ने अप्रत्यक्ष आश्वासन मिलने पर ही काँग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रि–मंडलों का गठन किया।

यदि 1937 और 1939 के बीच विभिन्न प्रान्तों में काँग्रेस सरकार के कार्यों का अध्ययन करें तो बहुत से ऐसे कार्य सामने आते हैं जो काँग्रेस नीति के विरूद्ध थे और जिन्हें स्वयं काँग्रेस ही बुरा समझती थी। इन कार्यो के लिये काँग्रेस सरकार की आलोचना की गई। मुस्लिम लीग ने भी काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों की कटु–आलोचना की।

दूसरा महायुद्ध तथा संवैधानिक गतिरोध

3 सितम्बर, 1939 को दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। भारत को युद्ध में शामिल घोषित कर दिया गया। काँग्रेस ने सरकार के इस कदम का विरोध किया और 14 सितम्बर को प्रस्ताव पास करके सरकार से युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने का आग्रह किया। काँग्रेस ने भारत को स्वतंत्र देश बनाने की माँग की। उदारवादियों ने भी काँग्रेस की माँग का समर्थन किया और कहा कि वर्तमान केन्द्रीय सरकार को हटाकर उसके स्थान पर उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जानी चाहिए।

काँग्रेस की माँगों का सरकार की तरफ से कोई उचित उत्तर नहीं मिला। 17 अक्टूबर के श्वेत पत्र में सरकार ने जो घोषणा की, उससे किसी को भी सन्तोष न हो सका। वायसराय के उत्तरों से निराश होकर काँग्रेस के मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।

मार्च, 1940 में भारतीय राजनीति में एक मोड़ आया। मुस्लिम लीग ने दो राष्ट्र के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान की माँग आरम्भ की। काँग्रेस ने दो शर्तों पर युद्ध में इंग्लैण्ड को सहायता देने का प्रस्ताव रखा, (क) युद्ध के बाद भारत को अपना शासन स्वयं चलाने का अधिकार दिया जाये, (ख) शीघ्र ही केन्द्र में एक अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाये जिससे सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भाग लें और जो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो।

इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हुआ। चेम्बरलेन के स्थान पर अनुदारवादी चर्चिल प्रधानमंत्री बने। वह भारत को स्वतंत्र बनाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने कहा कि ''मैं ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन पर अध्यक्षता करने के लिये ब्रिटिश प्रधानमंत्री नहीं बना हूँ।'' इससे भारतीयों को बड़ी निराशा हुई। 8 अगस्त 1940 के प्रस्ताव में वायसराय ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य घोषित किया और भारत के लिये संविधान निर्माण करने के लिए संविधान सभा की व्यवस्था को स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार किया गया और यह स्पष्ट किया गया कि जब तक भारत के सभी राजनीतिक दल तैयार न हो तब तक ब्रिटिश सरकार किसी एक दल के हाथ में शासन सत्ता नहीं सौंपेगी।

अगस्त प्रस्ताव से काँग्रेस को बड़ी निराशा हुई और प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया। यद्यपि आन्दोलन पूरी तरह से शान्तिपूर्ण था फिर भी सरकार ने दमन की नीति अपनाई और लगभग 25 हजार भारतीयों को बन्दी बनाया गया। किन्तु दिसम्बर 1941 में युद्ध का रूख ब्रिटेन के खिलाफ हो गया और जापान विजय प्राप्त करता हुआ भारत के दरवाजों पर पहुँच गया। भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार ने सभी बन्दियों को रिहा कर दिया। काँग्रेस ने समयानुसार प्रस्ताव पास करके अपना आन्दोलन वापस ले लिया।

क्रिप्स मिशन

युद्ध की स्थिति बिगड़ने में और आस्ट्रेलिया, चीन और अमेरिका द्वारा ब्रिटेन पर दबाव देने से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय संवैधानिक गतिरोध को दूर करने को क्रिप्स मिशन भारत भेजा। क्रिप्स मिशन ने भारत आकर सभी राजनीतिक दलों से विचार–

विमर्श किया और अपने प्रस्ताव सामने रखे। विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने–अपने दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तावों को ठुकरा दिया। कॉंग्रेस का विचार था कि इन प्रस्तावों से भारतीय एकता को खतरा पैदा हो सकता है क्योंकि प्रान्तों को संघ छोड़ने का अधिकार दिया गया था। प्रस्तावित संघ में देशी रियासतों को शामिल किया गया था और प्रतिरक्षा का भार भी अभी ब्रिटिश सरकार अपने ही हाथों में रखना चाहती थी। हिन्दू महा सभा तथा सिक्खों ने इन्हें इसलिये अस्वीकार कर दिया कि इसमें अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान का विचार निहित था। मुस्लिम लीग प्रस्तावों को स्वीकार करना चाहती थी किन्तु जब कॉंग्रेस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया तो उसने भी उन्हें ठुकरा दिया। 11 अप्रैल, 1942 को क्रिप्स मिशन ने इन प्रस्तावों को वापस ले लिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

जिस नाटकीय तरीके से क्रिप्स प्रस्ताव वापस लिये गये उससे भारतीय ठगे से रह गये। ब्रिटिश संसद में जिस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये उनसे ब्रिटिश सरकार के इरादे स्पष्ट हो गये और यह जाहिर हो गया कि यह सब एक राजनीतिक चाल थी। इससे भारतीयों में निराशा और खिन्नता की भावना पैदा हुई। यह देश के लिये बहुत ही संकट का समय था क्योंकि देश की सीमाओं पर जापान पहुँचा हुआ था और देशवासियों में उदासीनता तथा निष्क्रियता फैली हुई थी। इस हालत में देश के सामने कोई नया प्रोग्राम रखना बहुत ही जरूरी था। वह कार्य गाँधीजी ने किया और देश को एक नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिये अंग्रेजों से भारत छोड़ने को कहा। गाँधीजी इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि भारत में ब्रिटिश शासन तुरन्त समाप्त होना चाहिए। लुई फिशर से गाँधीजी ने कहा था कि ''There is no half way house between withdrawal and non-withdrawal.'' उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत छोड़ने से तात्पर्य सत्ता छोड़ने से है।

भारत छोड़ो प्रस्ताव

8 अगस्त, 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय कॉंग्रेस समिति ने भारत छोड़ो प्रस्ताव स्वीकार किया। प्रस्ताव में ब्रिटिश शासन को तुरन्त समाप्त करने और भारत को स्वतंत्र करने की माँग की गई। एक अस्थाई सरकार की व्यवस्था की गई जो भारत

की सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी। अस्थाई सरकार संविधान सभा की व्यवस्था करेगी जो भारत के लिये संविधान का निर्माण करेगी। भारत में संघीय व्यवस्था की जायेगी जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को दी जायेगी। अन्त में प्रस्ताव द्वारा गाँधीजी की अहिंसात्मक तरीके से जन आन्दोलन चलाने का अधिकार दिया गया।

गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि यह आन्दोलन 'करो या मरो' का संघर्ष है किन्तु हर हालत में यह शान्तिपूर्ण रहेगा। वह संघर्ष आरम्भ करने से पूर्व वायसराय से मिलना चाहते थे किन्तु उसने समय देने से मना कर दिया। सरकार दमन के लिये तैयार थी। 9 अगस्त की सुबह ही गाँधीजी और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया। काँग्रेस संस्था को अवैध घोषित किया गया और सभी बड़े नेताओं को जगह–जगह पर गिरफ्तार कर लिया गया।

नेताओं को बन्दी बनाने से और सरकार की दमन नीति से जनता में विद्रोह की भावना फैल गई। जगह–जगह पर छात्रों, मजदूरों, दुकानदारों और स्त्रियों ने जलूस निकाले। विद्रोही जनता ने रेलवे और पुलिस थानों को आग लगा दी तथा आवागमन के साधनों की तोड़–फोड़ की। पुलिस ने जलूसों पर गोलियाँ चलाई और कई स्थानों पर हवाई जहाजों से मशीन गनों से गोलियों की बौछार की गई। संक्षेप में कह सकते हैं कि आन्दोलन को कुचलने के लिये सरकार ने सभी अमानुषिक तरीकों को अपनाया। फिर भी सतारा और मिदनापुर में ब्रिटिश शासन को समाप्त करके भारतीयों ने अपनी सरकार की स्थापना की। श्रमिक वर्ग ने भी इसमें पूरा भाग लिया। टाटा आइरन एण्ड स्टील वर्क्स के सभी कर्मचारी 14 दिन तक हड़ताल पर रहे। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और अरूणा आसफ अली जैसे नेताओं ने छुपकर आन्दोलन को चलाया।

सरकार ने सभी हिंसात्मक कार्यों के लिए काँग्रेस को दोषी ठहराया। चर्चिल ने संसद में घोषित किया कि काँग्रेस ने शान्तिपूर्ण नीति को त्याग कर क्रान्तिकारी नीति को अपना लिया है। गाँधीजी ने इसकी निष्पक्ष जाँच करने की माँग की जिसे सरकार ने ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप गाँधीजी ने 21 दिन का उपवास शुरू कर दिया। सारे देश को इस व्रत से परेशानी पैदा हुई क्योंकि गाँधीजी शारीरिक रूप से बहुत ही

कमजोर थे किन्तु उन्होंने उपवास सफलतापूर्वक पूरा किया। जब सरकार ने देखा कि उन्हें रिहा करने से कोई खतरा नहीं है तो 9 मई, 1944 को उन्हें रिहा करने का आदेश दिया।

वैवल योजना

सन् 1945 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में संवैधानिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए एक और प्रयास किया। इस समय तक यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया था किन्तु जापान से युद्ध जारी रहने की सम्भावना बनी हुई थी। दूसरे, ब्रिटेन में आम चुनाव होने थे जिसमें मजदूर दल के जीतने की आशा थी। चर्चिल ने जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए वैवेल योजना का सहारा लेना चाहा। लार्ड वैवेल 4 जून, 1945 को भारत पहुँचे और दस दिन बाद उन्होंने अपने सुझाव पेश किये जो निम्नलिखित हैं –

1. वायसराय की कौंसिल का पूर्ण गठन किया जायेगा जिसमें वायसराय और कमाण्डर–इन–चीफ को छोड़ कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे।
2. कौंसिल में भारत के प्रमुख साम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व होगा और इसमें सवर्ण हिन्दू और मुस्लिम बराबर संख्या में होंगे।
3. विदेशी मामलों का विभाग भारतीयों के पास होगा।
4. भारत में एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर की नियुक्ति होगी आदि।

लगभग सभी राजनीति दलों ने इस योजना को स्वीकार किया और भारतीय नेताओं से विचार–विमर्श करने के लिए वायसराय ने एक सम्मेलन शिमला में बुलाया। यद्यपि सम्मेलन बहुत अच्छे वातावरण में आरम्भ हुआ किन्तु वायसराय की कौंसिल में मुस्लिम प्रतिनिधियों की नियुक्ति के विषय में काँग्रेस और मुस्लिम लीग में मतभेद हो गया। मुस्लिम लीग सभी मुस्लिम सदस्यों की नियुक्ति स्वयं करना चाहती थी। फलस्वरूप यह योजना असफल हो गई।

केबिनेट मिशन

सन् 1946 में भारत के राजनीतिक एवम् संवैधानिक गतिरोध का हल निकालने का अन्तिम प्रयास आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड में चुनाव हो चुके थे और प्रधानमंत्री एटली ने

संसद के निम्न सदन में घोषित किया कि भारत को स्वतंत्रता प्रदान की जायेगी और किसी अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनीतिक प्रगति में बाधा नहीं डालने दी जायेगी। उन्होंने केबिनेट मिशन की नियुक्ति की घोषणा की।

23 मार्च, 1946 को मिशन भारत पहुँचा और भारतीय नेताओं से विचार–विमर्श करके 16 मई, 1946 को अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किये, जिसमें मुख्य बातें इस प्रकार थी – (i) पाकिस्तान के विचार की अस्वीकृति, (ii) भारत को संघ बनाने का प्रस्ताव, (iii) भारत के लिये संविधान बनाने के लिए संवैधानिक सभा की व्यवस्था, (iv) अन्तरिम सरकार की स्थापना जिसमें मुख्य राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो, (v) प्रान्तों को ग्रुपों में बाँटना आदि।

काँग्रेस और मुस्लिम लीग ने इस योजना को स्वीकार किया। संविधान सभा के चुनाव कराये गये और अन्तिम सरकार बनाने के प्रयास किए गये। संविधान सभा में काँग्रेस की स्थिति देखकर मि० जिन्ना को अधिक निराशा हुई। दूसरे लार्ड वैवेल ने केवल मुस्लिम लीग के सहयोग से सरकार बनाने से मना कर दिया था। अतः लीग ने नाराज होकर मिशन योजना के सम्बन्ध में दी हुई स्वीकृति वापस ले ली और पाकिस्तान की माँग को मनवाने के लिए सीधे कार्यवाही का विचार अपनाया।

14 अगस्त, 1946 को वायसराय ने पं० जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने के लिए बुलाया। लीग ने सीधी कार्यवाही का मार्ग अपनाया जिससे कलकत्ता में हजारों आदमी मारे गए। परिणामस्वरूप अन्य कई स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। लार्ड वैवेल मुस्लिम लीग को मन्त्रिमण्डल में शामिल करने के प्रयास करते रहे। मि० जिन्नाने अन्त में आकर सरकार में लीग को शामिल करने की बात को स्वीकार कर लिया और पाँच सदस्यों को मनोनीत करके भेजा। इन सदस्यों ने काँग्रेस के साथ सहयोग नहीं किया जिससे अन्तरिम सरकार में गतिरोध पैदा हो गया। ब्रिटेन में प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि वह जून, 1948 तक भारत का शासन जिम्मेदार भारतीयों को सौंपना चाहते हैं। यदि मुस्लिम लीग संवैधानिक सभा में शामिल नहीं होती तो देखना यह होगा कि केन्द्रीय सरकार का प्रबन्ध किसको सौंपा जाये। इस घोषण से

मि० जिन्ना बहुत उत्साहित हुए और उन्हें पाकिस्तान बनने का स्वप्न साकार नजर आने लगा।

माऊंटबेटन की योजना 1947

लार्ड वैवेल के स्थान पर माऊंटबेटन भारत के वायसराय बने। भारत पहुँचने पर इन्होंने देखा कि देश के कई भागों में साम्प्रदायिक दंगे बड़े जोरों से चल रहे हैं और गतिरोध के कारण सरकार असफल है। भारतीयों से विचार–विमर्श करने के बाद उनके सामने इस समस्या को हल करने के केवल दो ही रास्ते आये या तो भारत का विभाजन या फिर उसे अराजकता में छोड़ दिया जाये। चूँकि अराजकता में छोड़ने से गृहयुद्ध भड़क सकता था इसलिए उन्होंने काँग्रेस नेताओं को समझा कर देश के विभाजन के लिए तैयार कर लिया। वायसराय ने देश के विभाजन की योजना तैयार करके ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के लिए इंग्लैण्ड भेज दी और वहाँ से स्वीकृति मिलने पर भारत में घोषित कर दी। इस योजना को भारत के सभी राजनीतिक संगठनों ने स्वीकार कर लिया।

माऊंटबेटन योजना स्वीकृत हो जाने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 पारित किया जिसके द्वारा व्यवस्था की गई कि 15 अगस्त सन् 1947 को दो स्वतन्त्र अधिराज्यों की स्थापना की जायेगी जिनके नाम भारत और पाकिस्तान होंगे। इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत ब्रिटिश साम्राज्य का शासन समाप्त हो गया।

1.2.4 निष्कर्ष

संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का काल लम्बा रहा है, जिसका अपना कोई विचारात्मक आधार नहीं था। ब्रिटिश शासन के स्वरूप में जैसे–जैसे परिवर्तन आते गए, वैसे–वैसे इस राष्ट्रीय संघर्ष के स्वरूप में भी परिवर्तन आते गए। ब्रिटिश साम्राज्य के विरोधी होने के बावजूद भी हमारे नेताओं ने स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए मानवीय हितों की कभी अवहेलना नहीं की और द्वितीय विश्वयुद्ध में फांसीवादी शक्तियों को कोई सहयोग नहीं दिया। अतः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का

स्वरूप भारत की स्वाधीनता था, जो समय–समय पर परिवर्तन होता रहा, किन्तु स्वाधीनता का यह संघर्ष मानवीय अहित में न होकर विकास में केन्द्रित था।

1.2.5 मुख्य शब्दावली

- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए 1885 में इस संस्था की स्थापना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित और विकसित करने के लिए की गई।
- उदारवादी गुट : आन्दोलनकारियों का वो समूह जो शान्ति के साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते थे।
- उग्रवादी गुट : ये समूह शान्तिपूर्वक साधनों की अपेक्षा अपने बलिदान देकर हिंसक साधनों का सहारा लेने का पक्षधर था।
- रौलेट–एक्ट : एक ऐसा दमनकारी कानून जिसके तहत किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताए बन्दी बनाया जा सकता था।
- साइमन कमीशन : एक ऐसा कमीशन जो ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय व्यवस्था में सुधार की सिफारिश करने के लिए 1927 में नियुक्त किया गया जिसका भारतीयों द्वारा बहुत विरोध किया गया।

1.2.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप का वर्णन कीजिए ?
2. उन घटकों का वर्णन कीजिए जो भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्‌भव हेतु उत्तरदायी थे ?
3. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति के मुख्य कारणों की विवेचना कीजिए।
4. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा तथा रणनीति का विवेचन कीजिए।
5. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म देने वाले आर्थिक कारकों का उल्लेख करें।
6. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म देने वाले राजनैतिक कारकों का उल्लेख करें।
7. मार्ले–मिण्टो सुधार कब किए गए ?

8. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कब की गई ?
9. उग्र दल के नेता कौन–कौन थे ?
10. मुस्लिम लीग की स्थापना कब की गई ?
11. जलियाँवाला बाग कांड कब हुआ ?
12. असहयोग आन्दोलन कब शुरू हुआ ?
13. लाहौर अधिवेशन कब हुआ ?
14. भारत छोड़ो आन्दोलन कब चलाया गया ?
15. क्रिप्स मिशन कब भारत आया ?
16. कैबिनेट मिशन कब भारत आया ?

1.2.7 सन्दर्भ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976

- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977

- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

1.3 संवैधानिक विकास (Constitutional Development)

1.3.1 परिचय

भारत अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण लगभग 200 वर्षों तक ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश रहा। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का आरम्भ ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से हुआ और इसका अन्त भारत की स्वतन्त्रता अर्थात् 15 अगस्त, 1947 ई० को हुआ। चूंकि भारत एक उपनिवेश देश था, इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य का हित व कल्याण मुख्य था, ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश राज्य के राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत में होना स्वभाविक था। जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश शासन के द्वारा अनेक अधिनियम पारित किए गए। इन अधिनियमों की भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही। भारतीय संविधान के विकास का प्रारम्भ 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट से लेकर 1935 के अधिनियम और अन्त 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के साथ माना जाता है।

1.3.2 उद्देश्य

- भारतीय संविधान को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण अधिनियम जो ब्रिटिश शासन ने लागू किए उन्हें जानना
- इन अधिनियमों की कमियों को और लागू करने के कारणों को जानना
- ब्रिटिशे शासन द्वारा लागू किए गए अधिनियमों के महत्व को जानना
- ब्रिटिश शासन की कुशलता को पहचानना
- संविधान के विकास में इन अधिनियमों की क्या भूमिका रही

1.3.3 संविधान का विकास

अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लिए आये लेकिन शासन करने के लिए ठहर गये। भारत में अंग्रेजों का उद्देश्य क्षेत्र विस्तार का नहीं अपितु व्यापारिक था। वे इंग्लैंड के लोगों को भारत में बसाने की अपेक्षा भारत का आर्थिक शोषण करना चाहते

थे क्योंकि अपने लोगों को बसाने के लिए उनके पास दुनिया में और भी बहुत से स्थान थे।

भारतीय राजनीतिक नेता व अर्थशास्त्री जिनमें प्रमुख श्री आर०सी० दत्त, दादा भाई नौरोजी, न्यायमूर्ति एम०जी० रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले जैसे अनुभवी नेता थे, अंग्रेजों के साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को समझ गए तथा इसका प्रचार देशवासियों में किया। गोपालकृष्ण गोखले ने समझाया कि अंग्रेजों के साम्राज्यवाद का वास्तविक उद्देश्य भारतीय साधनों व कच्चे माल को भारत से ले जाकर इग्लैंड पहुंचाना है। भारत में अंग्रेजी शासन व अंग्रेजी व्यापार पारम्परिक हितों पर आधारित नहीं था बल्कि उसकी आधारशीला अंग्रेजों की उन्नति व भारतीयों का आर्थिक शोषण थी। दादा भाई नौरोजी ने बड़ी सफाई से संकेतित किया था कि भारतीय विश्व में सबसे ज्यादा निर्धन है और इस निर्धनता का कारण है ब्रिटिश शासन।

न्यायमूर्ति रानाडे ने अंग्रेजी साम्राज्य की प्रशंसा की तथा इसे दैवी कृपा कहा। लेकिन वे अच्छी तरह समझते थे कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद की मुख्य प्रवृति भारत का आर्थिक शोषण थी। इसलिए उन्होंने अंग्रेजों की हस्ताक्षेप न करने की नीति (Laisseing-Faire) तथा उन्मुक्त व्यापार (Free Trade) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'भारतीय अर्थव्यवस्था' पर लिखे अपने एक लेख में विचार व्यक्त किया कि जो वस्तु इंग्लैंड के लिए अच्छी है वह भारत के लिए विष ही हो सकती है। उनका मानना था कि अंग्रेजों की 'हस्ताक्षेप न करने की नीति' तथा 'उन्मुक्त व्यापार' के सिद्धान्त ने भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया था। इसलिए उन्होंने अंग्रेजों से यह मांग की कि वे 'हस्ताक्षेप न करने की नीति' एवम् 'उन्मुक्त व्यापार' के सिद्धान्त को छोड़ दे तथा इसके स्थान पर कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के सिद्धान्त को अपनाये।

एक विचारधारा यह भी प्रचलित है कि अंग्रेजी शासन को भारत के आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक विकास का श्रेय जाता है। यह कहा जाता है कि अंग्रेजी शासन भारत के आधुनिकीकरण का यन्त्र था। लेकिन सच्चाई बिल्कुल अलग है।

आधुनिकीकरण (Modernisation) तथा साम्राज्यवाद (Imperialism) दोनों पृथक हैं। फिर भी अंग्रेजी शासन ने यदि भारत के आधुनिकीकरण अथवा विकास में सहयोग दिया है तो वह केवल संयोगवश हुआ क्योंकि अंग्रेजी शासन भारत के विकास के लिए स्थापित नहीं किया गया था। अंग्रेजों का वास्तविक उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था। उनका उद्देश्य तानाशाही साम्राज्यवाद (Autocratic Imperialism) था लेकिन उन्होंने इस उद्देश्य को चातुर्य के साथ संविधानावाद के पर्दे से ढांप रखा था।

अंग्रेजी निरकुंश साम्राज्यवाद ने अपनी आर्थिक शोषण की प्रवृति पर संरचनात्मक (Structural) तथा संगठनात्मक (Organisational) आवरण डालने का प्रयत्न किया था। लेकिन इस आवरण द्वारा अंग्रेजों का निजी स्वार्थ व भारत का शोषण छुप नहीं पाया। भारतीय संवैधानिक विकास (Constitutional Growth) को इस सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिये।

भारतीय संवैधानिक विकास का प्रारम्भ मुख्यतः 1773 ई० में हुआ जब ब्रिटिश संसद ने रेगुलेटिंग एक्ट (Regulating Act) पास किया। यह भारत में अंग्रेजी प्रशासन पर अंग्रेजी संसद के नियन्त्रण की पहली किस्त थी।

सन् 1858 के एक्ट द्वारा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर (Court of Director) तथा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) को समाप्त कर दिया। इस एक्ट द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि भारत का शासन अंग्रेज सप्रभु (English Sovereign) के नाम से तथा अंग्रेज सप्रभु द्वारा चलाया जायेगा। 1858 में साम्राज्ञी विक्टोरिया ने घोषणा की (Proclamation of Queen Victoria) : हम भारतवासियों एवं भारतीय क्षेत्र के प्रति उसी प्रकार वचनबद्ध है जिस प्रकार हम अपनी अंग्रेज प्रजा से बंधे हुए हैं। हम यह विश्वास दिलाते है कि भगवान के आर्शीवाद से हम दृढ़ता से अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे।

सन् 1861 के संसदीय एक्ट द्वारा विद्यायी विकेन्द्रीकरण (Legislative Decentralisation) का सूत्रपात हुआ। सन् 1892 के संसदीय अधिनियम द्वारा विधान परिषद् की सदस्य संख्या तथा उसके कार्यों में वृद्धि की गई। जब लार्ड मिन्टो भारत

के गर्वनर जनरल बन कर आए तथा लार्ड मोर्ले भारत मंत्री (Secretary of State of India) बने तो इससे भारत के नर्मदल वाले नेता बहुत प्रसन्न हुए। उन लोगों का विचार था कि उसमें भारतीयों के साथ अंग्रेजों के सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। विकेन्द्रीकरण के लिए एक शाही आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। बहुत से प्रमुख भारतीय नेता इस आयोग के सम्मुख पेश हुये। गोपाल कृष्ण गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विचार मॉले के सम्मुख रखे। सन् 1908 में ब्रिटिश संसद में एक बिल पेश किया गया तथा मई 1909 में मिन्टो मॉले सुधार किये जिसे 1909 अधिनियम (1909 Act) कहते हैं।

सन् 1909 अधिनियम के अधीन गैर–सरकारी सदस्यों की संख्या लगभग दौगुनी हो गई। फिर भी गर्वनर जनरल की विधान परिषद् (Legistative Council of Governor-General) में सरकारी बहुमत रहा लेकिन प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर–सरकारी सदस्यों का बहुमत हो गया। इस अधिनियम ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया।

अंग्रेजी निरकुंश साम्राज्यवाद पर पर्दा डालने की दृष्टि से 1909 का अधिनियम 1892 के अधिनियम से अधिक महत्वपूर्ण हैं लेकिन फिर भी भारतीय राष्ट्रवादियों ने 1909 के अधिनियम की कटु आलोचना की। उग्रवादी वर्ग का विचार था कि 1909 अधिनियम अंग्रेजी साम्राज्यवाद को फैलाने की ओर अधिक शरारतपूर्ण कदम था क्योंकि इस अधिनियम ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal Representation) तथा पृथक प्रतिनिधित्व (Seperate Electrate) की स्थापना की। यह सच है कि नर्मदल को लार्ड मॉले से बहुत आशा थी परन्तु जब अधिनियम की धाराएँ सामने आई तो उनकी आशाएँ छिन्न–भिन्न हो गई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने निम्नलिखित कारणों से इस अधिनियम की आलोचना की –

1. प्रत्यक्ष चुनाव की अपेक्षा अप्रत्यक्ष चुनाव की स्थापना।
2. संकीर्ण तथा सीमित मताधिकार की स्थापना। विधान परिषदों के कार्य–क्षेत्रों में विस्तार किया गया लेकिन विधायी तथा वित्तीय मामलों में उन्हें कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त नहीं था।

3. केन्द्रीय प्रशासन पहले की भांति सर्वोच्च तथा शक्तिशाली बना रहा।

4. भारतीय राष्ट्रवादियों की मांग भारत के लिए प्रजातन्त्रिय उत्तरदायी सरकार की स्थापना थी। लेकिन अंग्रेजी साम्राज्य के स्वरूप के अनुसार इस मांग को स्वीकार नहीं किया जा सकता था। हमें यह याद रखना चाहिए कि अंग्रेजों को अपना निरकुंश साम्राज्यवादी उद्देश्य छिपाने के लिए एक आवरण चाहिए था। वे भारत में अंग्रेजी शासन के मौलिक स्वरूप को बदलने के इच्छुक नहीं थे। इसीलिये लार्ड मोर्ले जैसे उदारवादी अंग्रेज ने स्वयं ही स्पष्ट किया कि उन्हें ऐसे भारतीय सुधारों से कुछ नहीं लेना जो भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना से सम्बन्ध रखते हो। वे सच कहते थे क्योंकि भारत में अंग्रेजी शासन के मौलिक स्वरूप को बदलने का उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।

5. अधिनियम का उद्देश्य अंग्रेजी सत्ता को दृढ़ बनाना था।

इस अधिनियम द्वारा अंग्रेजी सिद्धान्त 'बाटों और राज्य करो' (Divide and Rule) के सिद्धान्त को विधायी रूप दिया गया। भारतीय समुदाय को बांटने के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा पृथक निर्वाचन मण्डल का सूत्रपात किया गया। श्रीमती मिन्टों ने अपनी पुस्तक 'भारत, मिन्टो तथा मोंले (India, Minto and Morley)' में लिखा है कि पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा की गयी थी। लार्ड मोंले ने केवल उस मांग को स्वीकार किया था। यहाँ मोंले ने केवल उस मांग को स्वीकार किया था। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि गोपाल कृष्ण गोखले ने केवल संयुक्त प्रतिनिधित्व (Joint Electorates) की मांग की थी न कि पृथक प्रतिनिधित्व की, लेकिन अंग्रेज अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए पृथक प्रतिनिधित्व दोनों द्वारा अंग्रेजी शासन को भारत में दृढ़ करना नहीं बल्कि संयुक्त निर्वाचन (Joint Electorates) के द्वारा भारत में अंग्रेजी प्रभाव को कम करना था।

प्रथम विश्व युद्ध के समय अंग्रेजी शासकों को भारतीय सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता थी। भारतीय राष्ट्रीय जनमत अंग्रेजों के प्रति कटु था। अंग्रेज अपनी आवश्यकता के कारण इस कटुता को कम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से भारत मन्त्री ने 20 अगस्त 1917 को कामन्स सभा (House of Commons) में यह घोषणा की

– ''सम्राट की सरकार भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक पक्ष में सम्बन्धित करना चाहती है ताकि स्वशासन सहयोग का अधिक से अधिक विकास हो सके और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके।''

प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने पर अंग्रेज शासकों ने मानटेस्यु (Montaque) घोषणा का पालन करने का प्रयत्न किया। इस कारण 1919 का अधिनियम (Govt. of India Act 1919) पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी–

1. स्थानीय प्रशासन में जहाँ तक सम्भव हो जनता का नियन्त्रण होगा।
2. प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarchy) की स्थापना की गई।
3. भारतीय विधान परिषद (Indian Legistative Council) का विकास किया गया तथा इसमें गैर–सरकारी तत्वों में बढ़ोतरी की गई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस अधिनियम का विरोध किया। वैसे इस संस्था में आपसी मतभेद ही था महात्मा गाँधी इस अधिनियम के विपक्ष में कुछ नहीं करना चाहते थे। (Swarajists) स्वराज्य दल वाले इस अधिनियम के बहुत विरोधी थे फिर भी उन्होंने इसी अधिनियम के आधार पर चुनाव लड़े। उनका उद्‌देश्य विधान परिषद् के लिए चुनाव लड़ना और विधान परिषदों में स्थान प्राप्त करना नहीं था। अपितु वे तो परिषदों को भीतर से नष्ट करना चाहते थे।

1919 अधिनियम की असफलता लगभग निश्चित थी तथा द्वैध शासन भी असफल ही होना था क्योंकि इस अधिनियम में न तो उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई और न ही अंग्रेजी शासन के स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्तन किया। सर अलैकजन्डर मुडीर्मन (Alxander Muddiman) के नेतृत्व में एक सरकारी समिति भी इस निष्कर्ष पर पहुंची की प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarch) असफल रहा। उन्होंने इसके लिए अपनी विचारधारा के अनुसार कुछ कारण दिये। लेकिन सबसे प्रमुख असफलता का कारण यह था कि 1919 के अधिनियम द्वारा भारतीय राष्ट्रीय जनमत को उत्तरदायी सरकार (Responsible Government) प्रदान करने अथवा भारत में अंग्रेजी शासन के

स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। 1927 में अंग्रेजी सरकार ने 'साइमन आयोग' की नियुक्ति की घोषणा की। इसका उद्देश्य यह जानना था कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के सिद्धान्त को किस सीमा तक लागू किया जाये। भारतीय राष्ट्रीय जनमत यह जानता था कि कोई भी अंग्रेजी आयोग भारत को उत्तरदायी सरकार देने में सहमत नहीं होगा। क्योंकि इससे अंग्रेजी शासन के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन होगा। इसलिए 'साईमन कमीशन' का बहिष्कार किया गया। इस कमीशन के विरोध में मोतीलाल नेहरू कमेटी की स्थापना की गई। यह कमेटी भारतीय मत का प्रतिनिधित्व करती थी। इसे आल–पार्टी कमेटी (All Party Committee) भी कहा जाता हैं क्योंकि इस कमेटी को अलग–अलग राजनीतिक दलों तथा राजनीतिक गुटों का समर्थन प्राप्त था। नेहरू कमेटी का प्रमुख सुझाव था सत्ता का अंग्रेजों से भारतीयों को स्थानान्तरण करना अर्थात् अंग्रेज भारत की सत्ता भारतीयों को सौंप दें। इस समिति का यह भी सुझाव था कि भारत में एकात्मक शासन की स्थापना की जाए जिसमें आन्तरिक समस्याओं जैसे धर्म, भाषा, जाति आदि की समस्याओं का समाधान हो सकें।

साइमन कमीशन की असफलता के पश्चात् अंग्रेजी सरकार विश्व तथा भारतीय जनता को दिखाने के लिए एक 'गोलमेज सम्मेलन' (Round-Table Conference) चतुराई से बुलाना चाहती थी ताकि भारतीय जनता यह समझे कि अंग्रेज वास्तव में भारतीय राजनीतिक नेताओं से बातचीत द्वारा समस्या का हल निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं। पहला 'गोलमेज सम्मेलन' असफल रहा क्योंकि महात्मा गाँधी जैसे नेता इस प्रकार की बातचीत में दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। गाँधी जी उस समय 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' (Civil Disobedience Movement) द्वारा अंग्रेजों के विरोध में अपना रोष प्रकट कर रहे थे। 'गाँधी–इरविन समझौते' के फलस्वरूप गाँधी जी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हो गए। इस सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय मत की संघात्मक सरकार बनाने की मांग को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन भारतीयों की प्रमुख मांग अर्थात् सत्ता का भारतीय हाथों में सौंपा जाना, स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रमुख मांग का न माना जाना ही दूसरे गोलमेज सम्मेलन की असफलता का मुख्य

कारण थी। अंग्रेजी सरकार का भारत में अपना शासन दृढ़ करने में अगला कदम 'साम्प्रदायिक अवार्ड' (Communal Award) था। इसके द्वारा अंग्रेजों ने 'बाटों और राज्य करो' की नीति का विस्तार करने हेतु साम्प्रदायिक अवार्ड का जाल हरिजनों तक फैलाया। महात्मा गाँधी अंग्रेजों की शरारत को समझ गए तथा आमरण अनशन की घोषणा की। पूना समझौते (Poona Pact) द्वारा निर्णय हुआ और परिणाम स्वरूप गाँधी जी ने अपना व्रत तोड़ा तथा अंग्रेजों को ऐसी शरारत करने से रोका।

अंग्रेजी सरकार ने 1933 में एक 'श्वेतपत्र' (White Paper) छापा। इस पत्र में अंग्रेजों ने भारतीय संवैधानिक विकास के तीन प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त बताए। वे सिद्धान्त हैं –

1. संघीय सरकार की स्थापना
2. प्रान्तीय स्वायतत्ता।
3. केन्द्रीय व प्रान्तीय कार्यपालिकाओं को अल्पसंख्यकों के बारे में विशेष उत्तरदायित्व देना।

जब इस श्वेत पत्र के विरोध में असन्तोष व्यक्त हुआ तो अंग्रेज सरकार ने एक संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) की नियुक्ति की इस सीमित की रिपोर्ट के आधार पर भारतीय सरकार अधिनियम 1935 (Government of India Act 1935) बनाया गया।

1935 अधिनियम के अनुसार भारत में संघीय सरकार स्थापित करने का प्रावधान था। इस संघीय सरकार में केवल अंग्रेजी सरकार के अधीन क्षेत्र ही शामिल नहीं थे अपितु भारतीय रियासतें भी इसमें शामिल थी इसमें शामिल थी। भारतीय रियासतें एक दस्तावेज 'इन्स्टूरूमेंट ऑफ एसशैशन' (Instrument of Accession) के आधार पर संघ में शामिल होनी थी। केन्द्र में इस अधिनियम द्वारा द्वैध शासन को लागू किया गया। इस द्वैध शासन की असफलता लगभग निश्चित थी क्योंकि जिस प्रकार यह शासन प्रान्तों में सफल नहीं हो पाया उससे इसके केन्द्र में भी सफल होने की संभावना धूमिल थी। इस अधिनियम के अनुसार गर्वनर–जनरल भारत में किसी के प्रति उतरदायी नहीं था। वह केवल भारतमन्त्री द्वारा अंग्रेजी क्राउन के प्रति उत्तरदायी था।

इसके अतिरिक्त गर्वनर–जनरल को बहुत अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई जैसे रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध धार्मिक मामलें तथा कबीलों से सम्बन्धित शासन पर तो स्वविवेकी अधिकार (Discretion) प्राप्त था कि वह उन विषयों पर इच्छानुसार शासन कर सकता था। लेकिन कुछ विषयों पर उसे मंत्रियों के परामर्श से शासन करना था। यहाँ पर उसे मंत्रियों के परामर्श से शासन करना था। यहाँ पर एक अपवाद था। जब वह व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था तब वह मंत्रियों की सलाह मानने को बाध्य नहीं था।

अंग्रेज लेखक ए०बी० कीथ ने भी स्वीकार किया है कि इन विशेष उत्तरदायित्वों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि सम्पूर्ण शासन–व्यवस्था ही उसमें आ जाती थी और गर्वनर जनरल सभी हस्तान्तरित विषयों में भी हस्तक्षेप कर सकता था तथा मंत्रियों के उत्तरदायित्व को नष्ट कर सकता था। वास्तव में अंग्रेजों का उद्‌देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना नहीं था। अंग्रेजों को अपने निरकुंश साम्राज्यवाद को ढकने के लिए एक आवरण की आवश्यकता थी। इसीलिए संघीय शासन को कभी भी लागू नहीं किया गया। 1935 के अधिनियम द्वारा तथाकथित केन्द्रीय विधानमण्डल कभी स्थापित नहीं हो पाया। इस अधिनियम द्वारा एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गयी। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना इसी संघीय न्यायालय के आधार पर की गयी।

यह सत्य है कि 1935 अधिनियम द्वारा संघ की स्थापना का सुझाव रखा गया लेकिन उसे लागू नहीं किया गया। फिर भी स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाते समय 1935 के संघीय सुझाव ने बहुत सहायता की तथा आधुनिक संघ का ढांचा उसी सुझाव पर आधारित है। 1935 अधिनियम ने आधुनिक संविधान के ढांचे एवं शब्दावली आदि के मामले में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना इस अधिनियम की एक ओर महत्वपूर्ण विशेषता थी। संयुक्त प्रवर समिति का प्रांतीय स्वायतत्ता के बारे में कथन था कि इस योजना द्वारा प्रांतों को कार्यपालिका एवं एक विधानमण्डल प्रदान किया जाएगा जिसका निश्चित क्षेत्र होगा तथा जो अधिकतर केन्द्रीय सरकार व केन्द्रीय विधानमण्डल से स्वतन्त्र होगा। यद्यपि ब्रिटिश सरकार का उद्‌देश्य प्रांतों में प्रान्तीय स्वायतत्ता की

स्थापना करना था लेकिन इस अधिनियम द्वारा जो स्वायतत्ता स्थापित की गयी वह वास्तव में प्रांतों की स्वयातत्ता नहीं अपितु गर्वनर की स्वायतत्ता थी।

यह सत्य है कि प्रान्त के अध्यक्ष (गर्वनर) को एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करना चाहिये था। गर्वनर की सहायता (Aid and Advice) के लिए एक मंत्रीमण्डल की स्थापना की गई थी। लेकिन इसके साथ–साथ उसको स्वविवेकी शक्तियाँ (Discretionary Powers) प्रदान की गई। स्वविवेकी शक्तियों का तात्पर्य यह था कि गर्वनर के द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों के परामर्श के बिना ही अपने विवेक के अनुसार किया जाना था। एक इन्सट्रूमैंट ऑफ इन्सटरकसन (Instrument of Instruction) भी गर्वनर को दिया गया।

1935 अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय स्वायतत्ता को लागू किया गया। कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई जिसमें यह निश्चय किया गया कि जिन प्रांतों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हो उनमें तभी मन्त्रिमण्डल बनाए जायें जब गवर्नर उनके कार्यों में हस्तक्षेप न करे तथा मंत्रीमण्डल के परामर्श से कार्य करे व एक संवैधानिक अध्यक्ष बने रहने का वचन दे। लेकिन कुछ समय बाद 1937 में गर्वनर–जनरल ने यह आश्वासन दिया कि गर्वनर अपनी विशेष स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों के दैनिक कार्यों में नहीं करेंगे। 1937 में प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रीमण्डल बनाये गये।

1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के समय अंग्रेजों ने भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेसी मंत्रियों ने विरोध से अपने पद त्याग दिये। जिसे पहले प्रान्तों की उत्तदायी सरकार कहा जाता था वह फिर गर्वनरों की स्वायतत्ता हो गई।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Communal Representation) 1935 अधिनियम के अन्तर्गत लागू की गई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए प्रमुख समुदाय मुस्लिम, सिक्ख, एंग्लो इंडियन, भारतीय ईसाई तथा यूरोपियन थे। विशेष हितों जैसे उद्योग, वाणिज्य, जमींदारों, विश्वविद्यालयों तथा मजदूर वर्गों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। कुछ स्थान स्त्रियों व पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित रखे गए। मताधिकार में वृद्धि की गई लेकिन फिर भी केवल 14 प्रतिशत जनता को मताधिकार प्राप्त था।

माउण्ट बैटन योजना के आधार पर राष्ट्र को भारत और पाकिस्तान जैसे दो भागों में बाँट दिया गया। 3 जून 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ऐटली ने घोषणा की कि भारत व पाकिस्तान स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र होंगे तथा इस घोषणा के आधार पर भारत 15 अगस्त 1947 को एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र बना।

1.3.4 निष्कर्ष

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक लंबी संवैधानिक प्रक्रिया की उपज है। इसको वर्तमान रूप प्रदान करने में समय–समय पर ब्रिटिश संसद द्वारा पारित अधिनियमों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। भारतीय संविधान की उत्पत्ति और विकास की रूपरेखा हमें ब्रिटिश शासन के दौरान प्राप्त हुई। 1600 ई० से लेकर 1947 ई० तक के काल में ही भारतीय राजनीतिक इतिहास और उसकी उन्नति के आधार पर संवैधानिक विकास की परिपाटी निर्धारित हुई।

1.3.5 मुख्य शब्दावली

- साम्राज्यवाद : किसी भी निर्बल राज्य पर किसी शक्तिशाली राज्य का प्रभुत्व और उस राज्य के संसाधनों का दमनकारी तरीके से शोषण करना।
- साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व : धर्म के आधार पर अलग–अलग वर्गो को अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने का अधिकार ब्रिटिश सरकार द्वारा दिया गया।

1.3.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय संविधान की रचना करने में संवैधानिक विकास की व्याख्या कीजिए।
2. संवैधानिक विकास तथा भारतीय संविधान के निर्माण के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए।
3. भारतीय संविधान 1935 के अधिनियम का गौरवपूर्ण संस्करण है। व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय संविधान 1935 के एक्ट की प्रतिलिपि है। टिप्पणी कीजिए ?
5. 1909 में भारतीय शासन अधिनियम की कोई चार विशेषताएं लिखिए ?
6. भारतीय शासन अधिनियम 1919 की चार मुख्य विशेषताएं लिखिए ?

1.3.7 सन्दर्भ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999

- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

1.4 राजनीतिक विरासतें (Legacies)

1.4.1 परिचय

संसार के प्रत्येक देश के शासन व राजनीति के आधारों में भिन्नता पाई जाती है, क्योंकि किन्ही भी दो देशों का शासन व राजनीति समान नहीं होते। प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था, भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, आर्थिक स्थिति, सामाजिक ढांचे तथा वहां की संस्कृति आदि का प्रभाव पड़ता है। राजनीति के आधार राजनीति को वह सामग्री प्रदान करते है, जिनके बल पर राजनीति अपने स्वरूप तथा गतिशील शक्तियों का निर्धारण करती है। परन्तु राजनीति के आधार ही राजनीति को प्रभावित नहीं करते बल्कि राजनीति भी इन आधारों को प्रभावित करती है। मॉरिस जोंस का कहना है, ''कोई भी सामाजिक सम्बन्ध, चाहे वे कितने ही प्राचीन एवं धार्मिक संस्कारों से क्यों न बंधे हो, फिर भी राजनीतिक अंश से मुक्त नहीं हो सकते।

इतिहास का राजनीति पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है और भारतीय राजनीति पर भी इतिहास का प्रभाव सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों से पड़ा। भारत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन व परम्पराओं से युक्त है और इसमें आधुनिकीकरण लाने के लिए परम्पराओं का विरोध नहीं किया जा सकता है अर्थात् परम्पराओं को किसी न किसी रूप में साथ लेकर चलने से ही आधुनिकीकरण सम्भव है। इस देश के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता इसमें विभिन्न सभ्यताओं व संस्कृतियों का समन्वय है। अनेकता में एकता इस देश में विद्यमान है। अलग–अलग युगों की राजनीतिक विरासतों की अपनी विशेषताएं है।

1.4.2 उद्देश्य

- अलग–अलग युगों की महत्वपूर्ण देनों व विकास को जानना
- इन युगों की शासन व्यवस्थाओं ने भारतीय व्यवस्था को कैसे प्रभावित किया
- विभिन्न संस्थाओं ने भारतीय शासन को कैसे प्रभावित किया
- आन्दोलनों का भारतीय शासन पर क्या प्रभाव पड़े

- विभिन्न युगों में भारतीय शासन को किन समस्याओं ने प्रभावित किया

1.4.3 राजनैतिक विरासतें

प्रो० मैरिस जोन्स अपनी पुस्तक 'भारतीय शासन एवं राजनीति' के प्रथम अध्याय में कुछ विरासतों का वर्णन करते है। उनके अनुसार भारतवर्ष की एक विशेषता यह रही है कि यहाँ पर निरन्तरता (Continuity) और परिवर्तन (Change) के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश की जाती रही है। भारतवर्ष की जो आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था है उसमें भी कुछ बातें नई है तो कुछ बातें हमने अपने इतिहास से राजनीतिक विरासत के रूप में पायी हैं। इन विरासतों को प्रो० मैरिस जोन्स चार शीर्षकों (i) सरकार (ii) राष्ट्रीय आन्दोलन (iii) बीच बचाव करने वाली संस्थाएँ एवं (iv) समस्याएँ और वायदे के अन्तर्गत वर्णन करते हैं।

(i) सरकार : प्रो० जेन्स के अनुसार सबसे पहली विरासत यह है कि जब भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय भारत की अधिकांश जनता सरकार के महत्व को समझती थी। यह बात इतनी साधारण नहीं जितनी लगती है क्योंकि अफ्रीका और एशिया के काफी देश ऐसे रहे है कि जहाँ आजादी मिली लेकिन वहाँ की आम जनता सरकार के महत्व को नहीं समझती थी और आजादी मिलने पर सरकार को चलाना ऐसे देशों में मुश्किल हो गया था। विशेष बात यह है कि भारतीय लोग सरकार की इज्जत करते थे और यह मानते थे कि सरकार का होना आवश्यक है और उसका शक्तिशाली होना भी आवश्यक है। लोग सरकार को अपना संरक्षक मानते थे और यह भी समझते थे कि जब शक्तिशाली सरकार होगी तभी इस देश में कानून और व्यवस्था (Law and order) की स्थिति रह सकेगी। लोग एक शक्तिशाली सरकार ही नहीं बल्कि एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का महत्व समझते थे। इस बात के साथ भारत को अंग्रेजी शासन से करने के यन्त्र, राज करने की विधि और वे संगठन एवं कर्मचारी भी मिले तथा वे तरीके भी मिले जिनके द्वारा अंग्रेज भारत में राज करते थे। नौकरशाही भी अंग्रेजों की देन है। इसे नौकरशाही का ढाँचा पूर्णतया पदसोपान (Hierarchical) था। इण्डियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service) सबसे पुरानी और सबसे श्रेष्ठ सर्विस थी और

नौकरशाही का सारा कार्य इस सर्विस के हुकम से होता था। हमारी आजादी की लड़ाई में हमारे देश के नेता इस नौकरशाही के बहुत बड़े विरोधी थे। आमतौर पर यह नौकरशाही ही राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करती थी। इसलिए हमारे देश में नौकरशाही के लिए और विशेषतौर पर आई०सी०एस० (I.C.S.) के प्रति घृणा का भाव रहा। हमारी संविधान सभा ने भी काफी बार सदस्यों ने नौकरशाही और आई०सी०एस० की बुराई की। लेकिन सरदार बल्लभ भाई पटेल जो उस समय गृहमन्त्री थे इस बात को जानते थे कि आई०सी०एस० के बिना देश का शासन चलाना एक असम्भव बात होगी। इसलिए 1949 में उन्होंने संविधान सभा में कहा, ''मैंने इस कठिन समय में उनके साथ काम किया है ... अगर इन्हें हटा दिया गया तो मेरे विचार से .... अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।''

संघीय व्यवस्था की मांग हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में की गई थी। लेकिन 1935 के एक्ट में इस व्यवस्था को अंग्रेजों ने शामिल कर लिया था। सच तो यह है कि इस अधिनियम का भारत के राजनीतिक विकास में विशेष योगदान रहा। हमारे संविधान पर इस अधिनियम का प्रभाव बहुत ज्यादा है। प्रो० जोन्स के अनुसार इस एक्ट ने भारत के राजनीतिक विकास में तीन योगदान दिए –

(क) प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की जिनमें व्यापक तरीकों से शक्तियों का विभाजन था। यह शक्तियों का विभाजन हमारे वर्तमान संविधान से काफी मिलता जुलता है।

(ख) एक संघीय न्यायालय की स्थापना की जो वर्तमान सर्वोच्च न्यायाल के लिए एक विरासत थी।

(ग) 1935 के एक्ट में 451 धारायें थी जिन्होंने वर्तमान संविधान के लिए एक नमूने का काम किया और एक बुनियादी ढाँचा पेश किया। यद्यपि वर्तमान संविधान में 1935 के एक्ट में से कुछ बात हटा दी गई और कुछ नयी बातें जोड़ दी गई फिर भी इस एक्ट की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

(ii) राष्ट्रीय आन्दोलन : हमें कुछ बातें ब्रिटिश सरकार से विरासत में मिली है और उससे भी ज्यादा बातें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन से मिली। प्रो० मैरिस जोन्स के

अनुसार, आधुनिक भारत की राजनीति का स्वरूप इन दोनों विरासतों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया (Interactin) का ही परिणाम है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख भाग इण्डियन नेशनल कांग्रेस यहाँ तक कि राष्ट्रीय आन्दोलन और इण्डियन नैशनल कांग्रेस एक ही बात मानी जाती रही। शायद इसीलिए गाँधी जी ने कहा था कि आजादी के बाद कांग्रेस की अब कोई जरूरत नहीं और उसे तोड़ कर नया रूप दिया जाए। लेकिन कांग्रेस पार्टी एक ऐसी विरासत थी जिसको स्वाधीन भारत के नेता किसी हालत में भी छोड़ नहीं सकते थे। यह एक राष्ट्रीय संगठन था जोकि अंग्रेजी राज की भांति सारे राष्ट्र में फैला हुआ था जैसे अंग्रेजी राज में शक्ति केन्द्रित थी वैसे ही कांग्रेस पार्टी में भी सारी शक्तियाँ इसकी 'हाई कमांड' (High Command) में केन्द्रित थी। यह हाई कमांड समय–समय पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सम्मेलनों और कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशनों की योजना बनाती थी। इन सम्मेलनों व अधिवेशनों के बीच की अवधि में इसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होता था हाई कमांड का निर्णय कांग्रेस के सब लोग मानते थे। गांधी जी तो अक्सर कहा करते थे कि हमारा राजनीतिक संगठन एक सभा की भांति होना जरूरी है इस पार्टी का ढांचा ऐसा था कि अलग–अलग विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और उन्हें ध्यानपूर्वक सुना भी जाता था लेकिन नीति निर्माण का काम केवल कुछ बड़े नेता ही करते थे और झगड़ों का निपटारा भी यही नेता करते थे। आज की हमारी दलीय व्यवस्था में ये सभी बातें निरन्तर बनी हुई है। राष्ट्रीय आन्दोलन जो कांग्रेस की भूमिका और कार्यप्रणाली थी वही हमें विरासत में मिली है। स्वतन्त्रता के पहले से ही कांग्रेस में दो प्रकार के संगठनों में झगड़ा भी चालू हो गया था। एक संगठन उन लोगों का था जो सरकारी पदों या विधानमण्डलों में कार्य कर रहे थे। दूसरे वे लोग थे जो केवल कांग्रेस के संगठन में ही कार्य कर रहे थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले पार्टी के संसदीय पक्ष (Parliamentary Wing) को दल की सर्वोच्चता माननी पड़ी थी। स्वतन्त्रता के बाद इस स्थिति में मूलभूत परिवर्तन आया। अब तो संसदीय पक्ष (Parliamentary Wing) ही ज्यादा शक्तिशाली उभर आया। लेकिन फिर भी ऐसी स्थितियाँ और समय जरूर आए जब पार्टी की सर्वोच्चता कुछ समय के लिए स्थापित हुई जैसे कि कामराज

योजना के समय पार्टी को फिर से महत्वपूर्ण बनाया गया था। कांग्रेस पार्टी ने अपने सदस्यों को अनुशासन की शिक्षा दी तथा यह भी हिदायत दी की कि एक दल को सारे देश की बात सोचनी चाहिए और एक राजनीतिक दल क्षेत्रीय दल नहीं हो सकता। इसका नेतृत्व भी अखिल भारतीय नेतृत्व रहा।

(iii) बीच–बचाव करने वाली संस्थाएँ : प्रो० मौरिस जोन्स उन संस्थाओं का वर्णन करते है जो ब्रिटिश शासनकाल में दो विरोधी ताकतों, अंग्रेजी सरकार तथा राष्ट्रीय आन्दोलनकारी के बीच बीच–बचाव का काम करती थी। इन संस्थाओं में प्रो० जोन्स व्यवसायिक समूह जैसे प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील आदि को शामिल करते है। उनका कहना है कि इन लोगों ने अंग्रेजों से उनकी कानून व्यवस्था, अंग्रेजी साहित्य, इंग्लैण्ड का इतिहास और अंग्रेजों की दूसरी मान्यताओं को विरासत में पाया। ये वही लोग थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। इसलिए इन लोगों में दोनों विरासतों का मिश्रण देखा जा सकता था।

दूसरी संस्था जो इस प्रकार की बीच–बचाव करने वाली संस्था कही जा सकती है वह भी भारत की विधान सभाएँ। इन विधानसभाओं में सरकार और राष्ट्रीय आन्दोलनकारी के बीच टक्कर होती थी। इन संस्थाओं में अंग्रेज और उनके चापलूस अधिक थे लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग भी विधानसभाओं में आ रहे थे। अंग्रेजों का अपना स्वार्थ था जो वे इन संस्थाओं द्वारा पूरा करना चाहते थे। साम्राज्यवाद को इन संस्थाओं से ढक देना चाहते थे। लेकिन इन संस्थाओं से भारत की आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को बहुत सारी बातें विरासत में मिली। संविधान सभा ने जो संसदीय प्रणाली अपनाने का निर्णय किया उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि हमें जो इन संस्थाओं में अनुभव प्राप्त हुआ था उसको हम खोना नहीं चाहते थे। एक तीसरी महत्वपूर्ण संस्था जिसको प्रो० जोन्स इस श्रेणी में शामिल करते है वह थी विधि प्रणाली और न्यायपालिका। इंग्लैंड की सामान्य विधि (Common Law) भी विरासत में मिली। भारतीय अदालतों का ढांचा, विधि प्रणाली तथा न्यायपालिका के प्रति हमारे नेताओं में काफी श्रद्धा और सम्मान था। आज भी जो

न्यायपालिका के लिए सर्वसम्मत न्यायपालिका के लिए सर्वसम्मत सम्मान देखने को मिलता है उसमें हमारे इतिहास की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है।

(iv) समस्याएँ और वायदे : राष्ट्रीय आन्दोलन के समय हमारे नेताओं ने काफी उम्मीद जगायी थी और कुछ वायदे भी किये थे। जब एक संस्था केवल आन्दोलन कर रही होती है तो वायदे करना बहुत आसान होता है। जब वही संस्था शासन संभालती है तो उसी के द्वारा किए गए वायदे समस्याएँ बन जाती हैं। आज के भारत में जो असीमित उम्मीदें जगी हुई नजर आई है, वे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की देन हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हर बात अंग्रेज सरकार नाम पर थोप दी जाती थी और ऐसा आभास कराया गया कि इनके जाते ही हमारे सारे सपने पूरे हो जायेंगे मानों हमें स्वर्ग में रहने को मिल जायेगा। यही असीमित जगी हुई उम्मीदें आज हमारी राजनीतिक व्यवस्था को तोड़ने तक को हो रही हैं।

जो समस्या भाषायी पुनःर्गठन (Linguistic Reorganisation) की स्वतंत्रता के बाद उठी, वह भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की देन थी क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भाषा के भाव (Sentiment) का खूब इस्तेमाल हुआ था। इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद देश का भाषा के आधार पर वितरण (Linguistic Distribution) करना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले कांग्रेस ही एक प्रमुख राजनीतिक दल था। लोगों को आदत पड़ गयी थी कि इसे ही अपने राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधि माना। स्वतन्त्रता के बाद इस दल की स्थिति में काफी उतार चढ़ाव आए और कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। लेकिन जो दलीय व्यवस्था हमारे देश में काफी समय तक बनी रही और जैसे कांग्रेस दल की प्रमुखता बनी रही। वह भी हमें विरासत में मिली है। आन्दोलन के दौरान हमारे जो गर्म दल के नेता थे उन्होंने खुले तौर पर गैर –संवैधानिक तरीकों पर जोर दिया था। उन्होंने असहयोग और निष्क्रिय विरोध (Non Co-operation & Passive Resistance) की बात की थी। गांधी जी स्वयं तो बड़े संविधानवादी थे उनका सत्याग्रह निष्क्रिय विरोधी नहीं था। लेकिन आजाद भारत में जो 'प्रत्यक्ष कार्य' (Direct Action) की बात चलती रहती है वह भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विरासत कही

जायेगी क्योंकि आज जो लोग 'प्रत्यक्ष कार्य' की बात करते हैं। वे गांधी जी और गर्म दलों के नेताओं के भाषणों का अपने पक्ष में प्रयोग करते हैं। 'प्रत्यक्ष कार्य' या गैर संवैधानिक तरीके तो बिल्कुल आखिर के तरीके होते है। लेकिन स्वतन्त्र भारत में इनका असीमित प्रयोग किया जाता रहा है। यहाँ तक की अब तो गैर–संवैधानिक तरीके भी महत्वहीन जा रहे हैं।

1.4.4 निष्कर्ष

संक्षेप में, मॉरिस जोंस का विचार है कि भारतीय राजनीति को शून्य में नहीं समझा जा सकता है, इसको भली प्रकार से समझने के लिए उन सभी सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों को समझना भी अति आवश्यक है, जिनमें इनका विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त मुहावरों तथा भाषाओं तथा विरासतों की भी भारतीय शासन और राजनीति पर अमिट छाप है। भारतीय राजनीति को आधुनिक अध्ययन के तरीके से परखने का मॉरिस जोंस का सरल तथा सहानुभूतिपूर्ण प्रयास है। इनकी दोनों पुस्तकें भारतीय राजनीतिक प्रणाली पर प्राप्त होने वाले साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

1.4.5 मुख्य शब्दावली

- गैर संवैधानिक : जो संविधान के विरूद्ध हो।
- संघीय व्यवस्था : जहाँ राज्य सरकार और केन्द्र सरकार के बीच शक्तियों का उचित विभाजन हो।
- बिचौलिएं संस्थाएं : वो वर्ग जिसने ब्रिटिश शासन के दौरान शासन तथा आन्दोलन के मध्य सामंजस्य का कार्य किया।
- हस्तांतरित विषय : प्रांतीय विषयों को ब्रिटिश शासन के दौरान दो भागों में बांटा गया था।
- आरक्षित और हस्तांतरित : हस्तांतरित विषयों पर चुने हुए मंत्रियों का अधिकार होता था तथा इसके लिए वे विधानपालिका के प्रति जिम्मेवार होते थे।

1.4.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की विरासतों की विवेचना कीजिए।
2. मॉरिस जोंस ने भारत की सरकार और राजनीति की किन धरोहरों का वर्णन किया है।
3. भारतीय राजनीति की विभिन्न धरोहरों का वर्णन कीजिए।
4. भारतीय राजनीति की विभिन्न विरासतों के इतिहास को समझाये।
5. भारत में मुस्लिम काल की राजनीतिक विरासतों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. भारत में प्राचीन काल की राजनीतिक विरासतों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
7. भारत में शासन–सम्बन्धी ब्रिटिश विरासतों का वर्णन करे।
8. मुगलकाल में माल गुजारी इक्ट्ठा करने के तीन प्रमुख आधार क्या थे ?
9. ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन कब समाप्त हुआ ?
10. मार्ले–मिण्टों सुधार कब पास किए गए ?

1.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957

- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967

- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

ईकाई – 2

संविधान निर्माण के आधार

2.0 ईकाई परिचय

हमारी शासन व्यवस्था का संचालन हमारे संविधान के अनुसार ही होता है। संविधान शासन–व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यवस्था का ढ़ाँचा मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं एवं मान्यताओं की अभिव्यक्ति करता है। हमारे संविधान–निर्माताओं का ध्येय ऐसे व्यवहारिक संविधान का निर्माण करता था जिसे भारत की शासन व्यवस्था को विशिष्ट परिस्थितियों एवं संकट की स्थिति में भी चलाया जा सके। संविधान निर्माताओं को इस बात का एहसास था कि वे भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के लिए एक ऐसा विधान बना रहे थे जो न केवल सामयिक समस्याओं और संकटों से राष्ट्र को बचा सके वरन् भविष्य में आने वाले समय में भी देश का दिशासूचक बना रहे। यह तभी सम्भव था, जबकि संविधान की आत्मा और व्यवहारिकता, नीजि सांस्कृतिक धरोहर एवं विदेशी अनुभवों का वह श्रेष्ठ समन्वय बना सके।

भारतीय संविधान की अन्तरात्मा न्याय, समता, अधिकार और बन्धुत्व पर आधारित है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारे वर्तमान संविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। हमारे संविधान की एक प्रस्तावना है जो संविधान का सार है। संविधान के समस्त प्रावधान प्रस्तावना में निहित भावनाओं से स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। कानून की दृष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है, किन्तु व्यवहार में यही कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का मार्ग–निर्देशन करने वाला प्रकाश स्तम्भ है। इसी तरह मौलिक अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों के हित में राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने का श्रेष्ठ उपाय हैं तथा राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत राज्य को कल्याणकारी राज्य बनाने में मार्गदर्शक का काम करते है।

2.1 उद्देश्य

- संविधान निर्माण में वैचारिक पृष्ठभूमि को समझना

- संविधान के मूल उद्देश्यों को जानना
- व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों के नियामक मौलिक अधिकारों का अध्ययन करना
- नागरिकों के कर्त्तव्यों के महत्त्व को जानना
- कल्याणकारी राज्य की स्थापना में राज्यनीति के निर्देशक तत्त्वों का मूल्यांकन करना

2.2 भारतीय संविधान का निर्माण : परिप्रेक्ष्य एवम् विचारधारा

(Framing of India's Constitution : Perspective and Ideology)

2.2.1 परिचय

भारत का संविधान एक लिखित संविधान है, जिसका निर्माण एक संविधान सभा द्वारा किया गया। विश्व के इतिहास में हमें पहला उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका से मिलता है। अमेरिका के संविधान की रचना के लिए एक संविधान सभा का गठन किया गया था जो लिखित संविधान था। उसके पश्चात् 19वीं शताब्दी में यूरोप के कई अन्य देशों में संविधान सभा की माँग की गई जिसके परिणामस्वरूप संविधान सभाओं की स्थापना की गई। भारत का संविधान बनाने के लिए भी संविधान सभा की मांग की गई। लम्बे संघर्ष के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा संविधान सभा की मांग को अन्ततः 1946 में मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के अन्तर्गत मान लिया गया और संविधान का निर्माण किया गया। इस संविधान सभा ने 2 वर्ष 11 महीने और 18 दिन में 26 नवम्बर, 1949 को संविधान निर्माण के कार्य को पूरा किया, जिसे 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। इस दिवस को भारतीय गणतन्त्र के रूप में गौरव प्राप्त हुआ।

2.2.2 उद्देश्य

- भारतीय संविधान की निर्माण प्रक्रिया को समझना
- संविधान सभा की मांग की स्वीकृति तथा इसके गठन की प्रक्रिया को जानना
- भारतीय संविधान के विभिन्न स्त्रोतों को जानना
- संविधान सभा के द्वारा संविधान निर्माण करते समय विभिन्न वाद–विवादों को समझना

2.2.3 संविधान निर्माण : परिप्रेक्ष्य एवं विचारधारा

1789 में क्रान्तिकारी फ्रांस ने क्रांति के सम्पन्न होने के बाद जो पहला कार्य किया वह था संविधान सभा की स्थापना। उस समय से लेकर संविधान सभा का

विचार प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है। भारत में भी संविधान सभा की मांग राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान की गई थी।

भारत के संविधान का निर्माण संवैधानिक सभा द्वारा किया गया था जो कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की गई थी। संविधान सभा ने दिसम्बर 9, 1946 को काम प्रारम्भ किया। संविधान सभा का निर्माण, देश की जनता की आशाओं और राष्ट्रीय आंदोलन की मांग, भारतीय संविधान का निर्माण ब्रिटिश संसद नहीं बल्कि भारत की जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि करेंगे की परिकाष्ठा थी। जनता का आह्वान करते हुए गाँधी जी ने 1921 में कहा था कि भारतीय जनता को ही अपने भविष्य का निर्णय करना चाहिए। 1922 में उन्होंने यह घोषणा भी की थी कि स्वराज ब्रिटिश संसद का तोहफा नहीं होगा। यह तो भारतीय जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की आकांक्षा से पैदा होगा।

साइमन कमीशन की नियुक्ति के विरोध में नेहरू समिति का गठन किया गया। इस समिति में भारत के विभिन्न राजनीतिक दल एवं संगठन शामिल हुए। पं० मोती लाल नेहरू इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति को स्वतन्त्र भारत के संविधान को तैयार करने का काम सौंपा गया। दिसम्बर 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पारित किया गया। इसके बाद संवैधानिक सभा की मांग जोर पकड़ने लगी। 1934 में जब ब्रिटेन की संसद द्वारा भारत सरकार अधिनियम को अंतिम रूप दिया जा रहा था उस समय भी कांग्रेस ने संविधान सभा की मांग की। भारत सरकार अधिनियम 1935 के आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधान सभाओं ने 1937 में एक प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव में यह मांग की गई थी कि भारत सरकार अधिनियम, 1935 भारतीय जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसलिए इस एक्ट को रद्द कर दिया जाए। इसके स्थान पर वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गई संविधान सभा द्वारा तैयार भारत का संविधान लागू किया जाए।

क्रिप्स मिशन प्रस्ताव के जरिये से ब्रिटिश सरकार ने पहली बार भारत के स्वतंत्रता के अधिकार तथा अपना संविधान स्वयं तैयार करने के अधिकार को मान्यता दी। 16 मई 1946 की कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत भारतीयों की संविधान सभा

के 381 सदस्यों को चुना जाना था। ये सदस्य भारत के सभी प्रान्तों व भारतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व करेंगे। योजना के मुताबिक हर 10 लाख की आबादी पर संविधान सभा का एक सदस्य होगा और इस संविधान सभा का काम सारे भारत के लिए एक संविधान तैयार करना था।

कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत संविधान सभा के सदस्य समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुने जाने थे। इन सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान–मण्डलों को करना था। प्रांतीय विधान मंडलों का चुनाव भी सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया था। इसमें वयस्क जनता का लगभग 20–24 प्रतिशत भाग ही शामिल था। भारतीय जनसंख्या का यह छोटा सा हिस्सा देश में राजनीतिक तौर पर सबसे अधिक जागरूक हिस्सा था। जनमत निर्माण पर भी इस छोटे से हिस्से का महत्वपूर्ण प्रभाव था। मूलरूप से इस संविधान सभा को सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के लिए संविधान बनाने का काम सौंपा गया था। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। मुस्लिम लीग ने देश के बंटवारे से पहले ही संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया। 1947 में ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास किया। इसके अन्तर्गत भारत का विभाजन हुआ। भारत तथा पाकिस्तान नामक दो स्वतन्त्र देशों का जन्म हुआ। पाकिस्तान में शामिल क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों को छोड़कर, बाकी सदस्यों ने भारतीय संविधान सभा का गठन किया। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या बदलती रही। इसका कारण था भारतीय रियासतों का भारतीय संघ में विलय होना। नवम्बर 1948 में संविधान सभा में 324 सदस्य थे। जिनमें से 232 सदस्य भारतीय प्रांतों से थे। इन 232 सदस्यों में से 197 सामान्य श्रेणी के 4 सिक्ख व 31 मुसलमान थे। 1945 के चुनाव में कांग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि कांग्रेस की यह स्थिति पाकिस्तान में शामिल होने वाले क्षेत्रों से बाहर के क्षेत्रों में थी। अतः भारतीय संविधान सभा में कांग्रेस का वर्चस्व था। भारत की संविधान सभा में डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ, ऑल इंडिया वुमेन्स कांफ्रैंस, ऑल इण्डिया लैंड होलडर्स कानफ्रैंस, आल इंडिया लिबरल फडटरेशन फ्रंट जैसे दलों व संगठनों को भी प्रतिनिधित्व मिला था। संविधान सभा में

कुछ मार्क्सवादी भी शामिल थे लेकिन भारतीय साम्यवादी दल अथवा सोशलिस्ट पार्टी का कोई प्रतिनिधि इसमें शामिल नहीं था। विभाजन से पहले की संविधान सभा में एक साम्यवादी दल का सदस्य था लेकिन विभाजन के कारण उसे अपनी सीट गवानी पड़ी। जहाँ सोशलिस्ट पार्टी का सम्बन्ध है, आजादी से पहले यह कांग्रेस में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी समूह के रूप में शामिल थी। लेकिन 1946 में सोशलिस्ट पार्टी ने कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा में शामिल होने से इन्कार कर दिया था। एक साल बाद इस समूह के नेता जयप्रकाश नारायण ने नेहरू को पत्र लिखकर कहा कि बदले हुए हालात में अगर आमंत्रित किया जाये तो सोशलिस्ट सदस्य संविधान सभा में शामिल हो सकते हैं। लेकिन नेहरू का कहना था कि संविधान सभा में स्थान खाली नहीं थे। परिणामस्वरूप 1946 में समाजवादी, कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। इस पार्टी ने संविधान सभा को भंगकर वयस्क मताधिकार के आधार पर फिर से इसके सदस्यों का चुनाव करवाने की मांग की एक महत्वपूर्ण तथ्य जिसका यहाँ जिक्र करना आवश्यक है वह यह है हालॉकि संविधान सभा में अधिकांश सदस्य कांग्रेस के थे लेकिन पार्टी के निचले स्तर के कार्यकर्ताओं को जगह नहीं मिल गयी थी।

जाति के आधार पर देखा जाए तो संविधान सभा में 83 प्रतिशत सदस्य हिन्दू थे। इनमें से 45 प्रतिशत ब्राह्मण थे जो जमींदार घरानों से सम्बन्ध रखते थे। हिन्दू सदस्यों में से 10 प्रतिशत मारवाड़ी या बनिया थे। इनमें से 13 प्रतिशत कायस्थ थे। कायस्थ सदस्यों में अधिकांश डॉक्टर या वकील थे। इनमें से 6 प्रतिशत राजपूत थे। जिनका सम्बन्ध जमींदार वर्ग से था। कुल मिलाकर संविधान सभा के 74 प्रतिशत सदस्य उच्च वर्ग के थे। मराठा, पटीदार व दक्षिण भारत की गैर–ब्राह्मण जातियों का अनुपात 18 प्रतिशत था। संविधान सभा में 6 प्रतिशत सदस्य अनुसूचित जातियों व जनजातियों से थे।

संविधान सभा के अधिकांश सदस्य मध्य वर्ग से थे ये लोग अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित थे। 20वीं शताब्दी में यूरोप के अनुभव के आधार पर इस वर्ग में एक क्रांतिकारी सामाजिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ था। संविधान सभा के प्रमुख 20 सदस्यों के बारे में

यह बात बिल्कुल सच थी। इनमें से सभी विश्वविद्यालय के स्नात्तक थे, जबकि चार लोगों ने विदेशी विश्वविद्यालयों से स्नात्तक की डिग्री हासिल की थी। इनमें से 12 लोग ऐसे थे जो वकालत के पेशे से जुड़े हुए थे या वकालत की डिग्री ले चुके थे। अन्य लोगों में एक डॉक्टर व एक व्यवसायी भी शामिल थे। इनमें से दो मुसलमान, एक क्रिशचियन और शेष हिन्दू थे। इन 20 लोगों में 9 ब्राह्मण थे, डॉ० अम्बेडकर अनुसूचित जाति से थे। इन 20 सदस्यों के इलावा एक अन्य प्रमुख व्यक्ति बी०एन० राऊ थे, जो संविधान सभा के सदस्य तो नहीं थे, मगर इसकी आंतरिक परिषद् के साथ सलाहकार के रूप में जुड़े हुये थे। श्री राऊ एक कानूनविद, वकील और जज के रूप में प्रसिद्ध थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा भारत की जनता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। केवल 20–24 प्रतिशत जनता ही इसमें वोट दे पाती थी। संविधान सभा का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से हुआ। इस सभा को कुछ सदस्यों का चुनाव ही नहीं हुआ था। ये भारतीय रियासतों के मनोनीत सदस्यों के रूप में संविधान सभा में शामिल किये गये थे। संविधान सभा में कांग्रेस का वर्चस्व था। इस सभा में 20 लोगों की प्रमुख भूमिका रही।

वैचारिक पृष्ठभूमि

कांग्रेस पार्टी का संविधान सभा में दो–तिहाई बहुमत था। इस पार्टी में फैसले लेने का अधिकार पार्टी हाई कमान को था। इस हाई कमान में नेहरू, पटेल और राजेन्द्र प्रसाद का महत्वपूर्ण नियन्त्रण था। संविधान सभा देश की जनता की आशाओं व आकांक्षाओं से परिचित थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन ने देश के विभिन्न वर्गो व समूहों में कांग्रेस के सामाजिक आधार पर मजबूत बनाया था। विशेषतौर पर 1920 के बाद जब गाँधी जी ने कांग्रेस का नेतृत्व किया। अब कांग्रेस ने ग्रामीण इलाकों की जनता को इक्ट्ठा करना शुरू किया। कांग्रेस नेतृत्व में छोटे शहरों व ग्रामीण इलाकों के कार्यकर्ताओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो उठी थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस का राष्ट्रीय नेतृत्व एक द्वंद्व में फंस गया। एक तरफ कांग्रेस पर व्यापारियों, वकीलों एवं जमींदारों का नियन्त्रण था तो दूसरी

तरफ यह दल जनता का हिमायती होने का दावा करती थी। कांग्रेस नेतृत्व का एक वर्ग इस बदलाव के प्रति काफी सचेत था। नेहरू के शब्दों में ''हमारा आर्थिक व सामाजिक ढांचा अब बेकार हो चुका है और यह जरूरी है कि इस ढांचे का पुनर्गठन किया जाए ताकि देश की जनता के भौतिक व आध्यात्मिक उत्थान का माध्यम बन सके। हमें एक ऐसे सामाजिक दर्शन का निर्माण करना है जो इस ढांचे में मूलभूत बदलाव लाए। हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहाँ निजी लाभ व व्यक्तिगत लालच का कोई स्थान न हो और जहाँ आर्थिक व राजनीतिक अधिकारों का उचित वितरण हो।'' इसी संदर्भ में प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ ग्रेनविल आस्टिन ने कहा था ''प्रथम युद्ध की समाप्ति के बाद भारत में दो क्रांतियाँ राष्ट्रीय व सामाजिक साथ–साथ चल रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ राष्ट्रीय क्रान्ति पूरी हो जाएगी, लेकिन सामाजिक क्रान्ति जारी रहना चाहिए।'' सामाजिक न्यास व बदलाव, एकता व स्थिरता और लोकतंत्र व कानून का शासन शामिल है।

संविधान सभा के सभी सदस्य क्रांति के पक्षधर थे। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि इस क्रान्ति के माध्यम से भारतीय समाज के ढांचे में बदलाव आएगा। संविधान सभा के कई सदस्यों ने 'समाजवाद' की अवधारणा को अपनाने पर बल दिया। संविधान सभा में शामिल मार्क्सवादियों, गांधीवादी, समाजवादियों व परम्परागत पूंजीवादियों ने अपनी–अपनी तरह से समाजवाद को परिभाषित किया। लेकिन वे सभी एक बात पर सहमत थे कि देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करनी है। सामाजिक क्रान्ति की अवधारणा के आधार पर ही भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार, राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों और कार्यकारिणी विद्यायीका व न्यायपालिका के अधिकारों का निर्धारण हुआ।

संविधान सभा ने राष्ट्रीय एकता व स्थिरता के उद्देश्य को हासिल करने का भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। भारतीय अभिजात्य वर्ग ने केंद्रीकृत राष्ट्रीय सरकार की अवधारणा का समर्थन किया। जिसके जरिए राष्ट्रीय नेतृत्व के अधिकार को मजबूती मिल सके और भारतीय समाज में फैंले विघटनकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लग सके। संविधान सभा के गठन से पूर्व इसके गठन के बाद की घटनाओं ने राष्ट्रीय नेताओं के

केंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था के आग्रह को पुष्ट किया। संविधान सभा को विश्वास था कि आर्थिक विकास के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए भी केन्द्रीकृत सरकार जरूरी है। संविधान में विधायी प्रावधानों का प्रारूप तैयार करते समय संविधान सभा के सदस्यों ने राष्ट्रीय एकता पर सबसे अधिक बल दिया। आन्तरिक स्थिरता की चिंताओं ने संघीय ढांचे को प्रभावित किया, विशेषतौर से आपातकाल स्थिति से सम्बन्धित प्रावधान इसी चिंता का परिणाम थे। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा सक्षम सरकार व प्रशासन और राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्यों ने भी संविधान निर्माण को प्रभावित किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अधिकांश भारतीय नेता उदारवादी लोकतांत्रिक परम्परा के प्रति बौद्धिक रूप से प्रतिबद्ध थे। इस मामले में इन नेताओं पर औपनिवेशिक शासन की सीमित उदारवादी संस्थाओं और शिक्षा का प्रभाव पड़ा। वास्तव में 1920 के दशक से ही कांग्रेस ने वयस्क मताधिकार की मांग करनी शुरू कर दी थी। बहरहाल, प्रत्यक्ष चुनाव को ही सामाजिक क्रान्ति का आधार बनाया गया। नेहरू का मानना था कि प्रत्यक्ष चुनाव के आधार पर गठित विद्यायिका देश की जनता का प्रतिनिधित्व करेगी तथा जनता के सामाजिक व आर्थिक हितों को आगे बढ़ाएगी। संविधान सभा में यह भी कहा गया कि प्रत्यक्ष चुनाव से ग्रामीण समाज की रक्षा करनी संभव होगी।

देश के सामाजिक व आर्थिक विकास के संदर्भ ने दो विरोधी विचारधाराओं – उदारवादी पूंजीवाद और समाजवादी – साम्यवादी को जन्म दिया। दोनों धाराएँ देश को प्रभावित करने की कोशिश में थी। उदारवादी विचारधारा का कहना था कि विकसित देशों से पूंजी के विस्तार के माध्यम से अविकसित देशों का विकास हो सकता है। दूसरी तरफ, साम्यवादी विचारधारा वाले विकासशील देशों में आर्थिक विकास तेजी से हो रहा था और इन देशों की जनता को सामाजिक न्याय की गारन्टी मिली हुई थी। पर इन देशों में नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत अधिक नहीं मिली हुई थी। भारतीय नेताओं के सामने यह चुनौती थी कि या तो वे इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में से ही कोई रास्ता निकाले या फिर कोई देशी विचारधारा को

जन्म दें। भारत के राष्ट्रीय नेताओं में इस मुद्दे पर काफी मतभेद थे। इस संदर्भ में तीन तरह की विचारधाराओं की चर्चा की जा सकती है।

पहली विचारधारा गांधीवादी थी। गांधी जी, जिन्होंने आधुनिक व परम्परागत विचारधाराओं के बीच अनिश्चित लेकिन प्रभावी सामंजस्य कायम करने में सफलता पायी, चाहते थे कि सुधारवादी व क्रान्तिकारी दृष्टिकोण में तालमेल करके आगे बढ़ा जाए। इसलिए गांधी जी के अनुसार स्वराज की स्थापना के साथ–साथ स्वतन्त्रता का अर्थ यह भी है कि ग्रामीण जीवन की सादगी व आत्मत्याग के सद्गुणों को बनाये रखा जाए। गांधी जी आधुनिक बुर्जुवा सभ्यता के आलोचक थे व बड़े–बड़े उद्योगों व पूंजीवादी शहरीकरण की बजाय ग्रामीण व हस्तशिल्प उद्योगों के विस्तार की हिमायत करते थे। गांधीजी के अनुसार ग्रामीण व हस्तशिल्प उद्योगों के विस्तार से अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रकीकरण होगा और भविष्य में आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज का निर्माण होगा। शासन व्यवस्था के मामले में भी गांधी जी परम्परागत विचारधारा के पक्षधर थे। वे ग्राम पंचायत पर आधारित विकेंद्रीकृत व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे।

परन्तु साम्यवादी विचारक गांधी जी की इस विचारधारा के खिलाफ थे। इनकी नजर में आधुनिकता व परम्परा के बीच गांधी जी द्वारा स्थापित सामजंस्य नाजुक और कमजोर है। साम्यवादियों ने गांधी की अहिंसा व वर्ग सामंजस्य की धारणा का विरोध किया। लेकिन इस मामले में साम्यवादियों की भी सीमाएँ थी। क्योंकि संविधान सभा में उनकी कोई हैसियत नहीं थी। पर कांग्रेस में समाजवादी भी शामिल थे। समाजवादियों की आशा का केन्द्र जवाहरलाल नेहरू थे। वे 1920 व 30 के दशक में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव में थे और जो वर्ग सामंजस्य की अवधारणा का सिद्धांतता विरोध करते थे। लेकिन कांग्रेस समाजवादियों के दृष्टिकोण में बदलाव आ रहा था।

स्वयं नेहरू भारतीय परिस्थितियों में वर्ग संघर्ष के सफल होने के प्रति शंकित थे। उन्होंने समाजवादी आर्दशों और गांधीजी के राजनैतिक दर्शन के बीच समन्वय कायम करने की कोशिश की। इस तरह राष्ट्रीय नेतृत्व में दो तरह के वामंपथी थे। पहले जो पूरी तरह से मार्क्सवादी क्रान्ति में विश्वास रखते थे और दूसरे जो सामंती ढांचे को बदलना चाहते थे, समताम आर्थिक व्यवस्था के पक्षधर थे और कुछ हद तक

निजी सम्पति का भी विरोध करते थे। ये अनावश्यक संघर्ष की बजाय शांतिपूर्ण तरीके से यह सब हासिल करना चाहते थे। संविधान सभा में दूसरे तरह के समाजवादियों का वर्चस्व था।

संविधान सभा में बल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में एक तीसरा समूह भी था। यह दक्षिणपंथी समूह बुर्जवा व जमींदार वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था। यह समूह चाहता था कि देश में एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम की जाए जिसमें निजी पूंजी को विकास का अवसर मिले, मजदूरों के आन्दोलन दबाये जाऐ और पश्चिमी देशों से सम्बन्ध बनाये जाये। यह समूह कांग्रेस को भी अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था।

संक्षेप में देश के वातावरण, जनता की आकांक्षाओं, राजनीतिज्ञों की सामाजिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान विकसित विचारों के आधार पर संविधान सभा बहु–वैचारिक ढांचे के तहत काम कर रही थी। इसके साथ ही साथ प्रबल नेतृत्व के प्रभाव और सत्ता हस्तान्तरण व विभाजन के बाद उपजी प्रशासनिक समस्याओं के कारण देश का नेतृत्व संविधान सभा में आम राय कायम करने के प्रति सचेत था।

संविधान सभा में निणर्य लेने की प्रक्रिया

(Process of Decision-making in the Constitent Assembly)

ग्रेनविल आस्टिन (Granville Austin) के अनुसार भारत के संविधान के निर्माण में दो प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। ये है – (i) सहमति से निर्णय तथा (ii) समायोजन का सिद्धान्त।

1. सहमति से निर्णय (Decision making by consensus) : भारतीय संविधान के निर्माता इस बात को अच्छी प्रकार से जानते थे कि वे कोई साधारण दस्तावेज नहीं बना रहे हैं, बल्कि एक संविधान का निर्माण कर रहे हैं, इसलिए उनके द्वारा बहुमत से निर्णय लेने के स्थान पर सहमति से निर्णय के सिद्धान्त को अपनाया गया। सहमति के इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए उनके द्वारा उनके तरीके अपनाए गए। प्रथम, कांग्रेस विधानमण्डल दल की बैठक में संविधान की प्रत्येक धारा पर खुलकर वाद–विवाद होता था और उन बैठकों में डॉ० अम्बेडकर, ए०के० अय्यर और आयंगर जैसे गैर कांग्रेसी नेताओं को भी

आमन्त्रित किया जाता था। द्वितीय, संविधान निर्माण से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण समितियों में विभिन्न समुदायों, हितों तथा वर्गो को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया था। कई स्थानों पर तो अल्पसंख्यक वर्ग के हितों के प्रतिनिधियों के रूप में उन व्यक्तियों को भी समिति में लिया गया था जो संविधान सभा के सदस्य नहीं थे। संविधान निर्माण के कार्य की सबसे महत्वपूर्ण समिति, प्रारूप समिति (Drafting Committee) के कुल 9 सदस्यों में से केवल एक प्रमुख कांग्रेसी श्री मुंशी थे और समिति के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर एक ऐसे व्यक्ति थे जो सदैव कांग्रेस के आलोचक रहे थे।

संविधान सभा की समितियों की बैठकों में भी बहुमत की जीत के स्थान पर एक दूसरे को समझाने–बुझाने की प्रवृति अपनाई गई। जिन सुझावों अथवा संशोधनों को अस्वीकृत किया गया, उन्हें अस्वीकार करने का कारण बताए गए, ताकि कोई सदस्य वह अनुभव न करे कि उनके सुझावों का अनादर किया गया है। इस सम्बन्ध में एम०वी० पायली ने लिखा है, ''संविधान सभा में वाद–विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला, आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनाई गई, लम्बे वाद–विवाद के प्रति असन्तोष नहीं दिखाया गया, अपने विचार दूसरों पर लादने एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया। यह एक पूर्ण लोकतांत्रिक प्रक्रिया थी, जिस पर भारतीय लोग गर्व कर सकते है।''

संविधान निर्माण में सहमति की जिस पद्धति को अपनाया गया उसके उदाहरण हैं, संविधान की संघीय व भाषायी प्रावधान और अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ।

संविधान निर्माण में सहमति संघीय ढांचे पर 1947 से ही विचार आरम्भ हुआ और नवम्बर 1949 तक इस पर विचार चलता रहा। इस सम्बन्ध में यह कोशिश की गयी कि सम्बन्धित प्रावधान संघ के प्रतिनिधियों और प्रान्तीय सरकारों के अधिक से अधिक प्रतिनिधियों को सन्तुष्ट कर सकें। ऐसी व्यवस्था करने की कोशिश की गयी कि न तो कोई प्रान्त संघ से अलग हो सके और न ही संघ को किसी पर थोपा जाए। इस सम्बन्ध में उचित व्यवस्था करने के लिए 'संघ

शक्ति समिति' (Union Powers Committee) में भिन्न–भिन्न प्रान्तों व देशी रियासतों के महत्वपूर्ण व्यक्तियों जैसे पंत, मित्तल टी०टी० कृष्णमचारी और रामास्वामी मुदालियर को शामिल किया गया।

भाषा से सम्बन्धित प्रावधान भी सहमति से निर्णय के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। भाषायी विवाद का सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए तीन वर्षों तक प्रयत्न किए गए। संविधान सभा की अन्तिम बैठक में अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि वे भाषायी प्रावधानों को मतदान के लिए नहीं रखेंगे, क्योंकि यदि कोई हल समस्त देश को स्वीकार्य नहीं हैं तो उसे लागू करना बहुत कठिन हो जाएगा। इसके इलावा अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में की गई व्यवस्थाएँ, संविधान की प्रस्तावना और संसद से सम्बन्धित प्रावधान भी सर्वसम्मति के आधार पर लिए गए निर्णयों के प्रमुख उदाहरण है।

ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार तीन तत्वों ने सर्वसम्मति के आधार पर निर्णय लेने में सहायता की। ये थे संविधान सभा में एकता का वातावरण, आदर्शवादिता का वातावरण और राष्ट्रीय उद्देश्य की विद्यमानता।

- समायोजन का सिद्धान्त (Principal of Accommondation) : समायोजन के सिद्धान्त का अर्थ दो ऐसे तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करना है जिन्हें प्रायः परस्पर विरोधी माना जाता है। वास्तव में, भारतीय संविधान सभा ने संविधान निर्माण में सिद्धान्तवादिता के स्थान पर व्यवहारिकता के दृष्टिकोण को अपनाया था और इसके अनुकूल ही समायोजन के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार है :

- संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों के बीच समन्वयः साधारणतया संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था को परस्पर विरोधी समझते हुए यह माना जाता है कि या तो एकात्मक व्यवस्था को अपनाया जा सकता है या संघात्मक व्यवस्था को। लेकिन भारत की अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुकूल संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय को अपनाया गया है।

2. गणतंत्रीय व्यवस्था के साथ राष्ट्रमण्डल की सदस्यता : सन् 1947 तक यह समझा जाता था कि कोई गणतन्त्र राज्य राष्ट्रमण्डल का सदस्य नहीं हो सकता, लेकिन संविधान सभा द्वारा भारत के गणतन्त्रात्मक स्वरूप को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के मार्ग में बाधक नहीं समझा गया। इस सम्बन्ध में संविधान सभा के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्री बी०एन० राव ने कहा था, ''राष्ट्रमण्डल की धारणा का स्पष्टतया विकास होता जा रहा है और वह अब इस स्तर पर पहुँच चुका है कि उसमें गणतन्त्रात्मक संविधान वाले राज्य भी अपना स्थान पा सकते है।''

3. केन्द्रीयकृत शासन और पंचायत व्यवस्था के बीच समन्वयः समायोजन के सिद्धान्त का एक अन्य उदाहरण केन्द्रीयकृत शासन और पंचायत व्यवस्था के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच स्थापित किया गया समन्वय हैं संविधान सभा द्वारा इन दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उन्हें शासन के अलग–अलग स्तरों पर लागू किया गया। ग्रनवेल आस्टिन के अनुसार ''संघ तथा प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाया गया। प्रांतीय सरकारों से नीचे के स्तर पर विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस सम्बन्ध में व्यवस्था का कार्य प्रांतीय व्यवस्थापितकाओं के क्षेत्राधिकार में रखा गया। इसके साथ ही राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में भी पंचायत व्यवस्था को स्थान दिया गया।'' राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध की गई व्यवस्था तथा मौलिक अधिकारों और उनके दुरूपयोग के विरूद्ध की गई प्रतिबन्धों की व्यवस्था आदि भी समायोजना के सिद्धान्त को अपनाने के ही उदाहरण है।

परिवर्तन के साथ चयन की कला (The Art of Selection and Modification) : उपरोक्त दो सिद्धान्तों के इलावा संविधान का निर्माण कार्य परिवर्तन के साथ चयन कला के आधार पर भी किया गया। भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य किसी मौलिक अथवा आर्दश संविधान का निर्माण करना नहीं था। वे एक अच्छे तथा कामचलाऊ संविधान का निर्माण करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने विदेशी संविधानों की

उन व्यवस्थाओं को अपने संविधान में शामिल किया जो उन देशों में सफलतापूर्वक काम कर रही थी और भारत की परिस्थितियों के अनुकूल थी। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि विदेशी संविधानों से कुछ व्यवस्थाओं को सोच विचार कर ही ग्रहण किया है और जो कुछ ग्रहण किया गया है उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया जाता गया है।

भारत की भावी राज्य व्यवस्था : भारत की भावी राज्य व्यवस्था के बारे में संविधान सभा कई उद्देश्यों को सामने रख कर चल रही थी। 15 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा में जवाहर लाल नेहरू द्वारा रखे गये उद्देश्य प्रस्ताव में इनकी विस्तृत चर्चा की गई। यह प्रस्ताव 22 जनवरी, 1947 को आम सभा में पारित हो गया। इस प्रस्ताव में कहा गया है कि ''... सार्वभौम स्वतन्त्र भारत इसके संघटक अंग और सरकार के अंग अपनी सारी शक्तियाँ तथा अधिकार जनता से प्राप्त करेंगे और भारत के सभी लोगों को कानून व लोक नैतिकता का ध्यान रखते हुये, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता और विचार, संप्रेषण विश्वास व्यवसाय संगठन बनाने की स्वतन्त्रता की गारंटी होगी ...।'' इस प्रस्ताव में दिये गये उद्देश्यों की प्रकृति सामान्य है। इन उद्देश्यों के आधार पर ही संविधान का आधारभूत ढांचा तैयार किया गया और सामाजिक परिवर्तन की राह निकली। इस उद्देश्य प्रस्ताव का मुख्य जोर भारत को एक स्वतन्त्र सार्वभौम गणराज्य बनाने पर था। देश का संविधान ब्रिटिश भारत व रियासतों के संघ के लिए बनाया जाना था। संविधान के तहत भारत के नागरिकों को विचार, संप्रेषण, विश्वास, व्यवस्था आदि के उदारवादी अधिकारों की गारंटी दी जानी थी। इसके इलावा अल्पसंख्यकों पिछड़े वर्गो खासकर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए पर्याप्त सुरक्षा और सभी नागरिकों को सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक न्याय प्राप्त करवानें के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करने का प्रावधान भी संविधान के तहत किया जाना था। भारत की भावी राज्य व्यवस्था के बारे में देश के नेताओं ने तीन उद्देश्य तय किये –

1. देश को ब्रिटिश शासन के प्रभाव से मुक्त करना

2. उदारवादी संस्थाओं के आधार पर भारत को इस उपमहाद्वीप में एक शक्तिशाली राष्ट्र राज्य के रूप में विकसित करना।

3. देश की जनता की उत्पादकता में बढ़ोतरी।

लेकिन ये उद्देश्य प्रभु वर्ग व अभिजन की सत्ता और स्वतन्त्रता के समय देश की समस्याओं के परिवेश में ही प्राप्त किये जाने थे। इन उद्देश्यों के आधार पर ही भारत का संविधान बना जिसका दर्शन अस्पष्ट है।

संविधान का दर्शन तथा विचारधारा : भारत के संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों तथा संविधान सभा के बोध के विश्लेषण से स्पष्ट है कि विचारधारा के आधार पर व सामाजिक लक्षणों के दृष्टिकोण से कुछ हद तक यह अस्पष्ट व स्वप्नदर्शी हैं। भारतीय संविधान की विचारधारा का वर्णन संविधान की प्रस्तावना मौलिक अधिकारों व राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में किया गया है। भारत में जिन संवैधानिक संस्थाओं का निर्माण किया गया है वे हमारे ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर नहीं किया गया है। इन संस्थाओं की अवधारणा, इनकी संरचना तथा अन्य विशेषताएँ देश के पश्चिम के साथ सम्बन्धों से पैदा हुई थी। इसलिए कहा जा सकता है हालॉकि हमारे संविधान निर्माता सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के प्रति सचेत थे लेकिन वे मार्क्स व मिल की बजाय लास्की व फैबियन समाजवाद से प्रभावित थे।

इस विचारधारा के अन्तर्गत लोकतन्त्र को सर्वसत्तावादी व एकदलीय सरकार के खिलाफ एक कारगर यन्त्र के रूप में देखा गया। लोकतन्त्र को सामाजिक क्रान्ति के प्रति प्रतिबद्धता के रूप में देखा गया। लोकतन्त्र में इतना अधिक विश्वास था कि संविधान में 'समाजवाद' तथा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द जोड़ने के लिए संविधान सभा में पेश संशोधनों को रद्ध कर दिया गया। संविधान सभा में यह तर्क दिया गया कि देश का संविधान इन वैचारिक प्रतिबद्धताओं को समाहित कर लेगा।

इसीलिए संविधान में राष्ट्रीय आन्दोलन की सर्ववर्गीय छवि देखी जा सकती है। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों व मौलिक अधिकारों के प्रावधान के रूप में भी इस संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। इन वर्ग में उच्च जाति के हिन्दुओं की प्रमुखता थी, लेकिन इसी वर्ग ने अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध बनाया और इसे

समाप्त किया। गरीबों व अनपढ़ों वाले देश में इस वर्ग ने वयस्क मताधिकार व राजनीतिक समानता का अधिकार प्रदान करवाया। इसके साथ ही शोषित तथा कमजोर वर्गो वाले देश में इसी वर्ग ने शोषण के खिलाफ अधिकार का प्रावधान किया।

इस प्रकार देखा जाए तो संविधान को मुक्ति के साधन के रूप में देखा जा सकता है। इसमें देश की जनता को सामाजिक न्याय का वादा किया गया। गहराई से देखा जाए तो संसदीय प्रजातंत्र की धारणा व्यवहारिक भी थी। इसमें कोई शक नहीं हैं कि ब्रिटिश शासन की वैचारिक सोच का इस दृष्टि से काफी महत्व है। अगर भारत के प्रभु वर्ग के हितों की अनदेखी होती तो वे इस विचारधारा को कभी न अपनाते। संसदीय प्रजातंत्र की धारणा के अन्तर्गत ऐसा लगता था कि आजादी की लड़ाई के राजनीतिक लाभों का समान वितरण हो रहा है। इसके साथ ही साथ सामाजिक क्रान्ति के अभाव में एक अत्याधिक विषमतामूलक सामाजिक ढांचे में, संसदीय प्रजातंत्र ने प्रभु वर्ग को कमजोर वर्ग पर अपना वर्चस्व बनाये रखने का अवसर प्रदान करवाया। इसमें संपति का अधिकार महत्वपूर्ण साधन बना।

सम्पति के मौलिक अधिकार के अन्तर्गत सरकार को किसी व्यक्ति की सम्पति जब्त करने का अधिकार नहीं था। सम्पति के अधिग्रहण के खिलाफ वह न्यायालय की शरण में भी जा सकता था। इस तरह से सम्पति के मौलिक अधिकार ने श्रम शक्ति पर सम्पति मालिकों की विजय का ठोस आधार प्रदान किया। यह सत्य है कि राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में भारत के सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन का दर्शन था, परन्तु सम्पति के मौलिक अधिकार ने नीति निर्देशक सिद्धान्तों की संभावनाओं को कुंद कर दिया। संविधान में खेत जोतने वालों को जमीन का अधिकार व प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का प्रावधान नहीं था।

इस संदर्भ में के०टी० शाह ने संविधान सभा में कहा था कि संविधान के अध्ययन के अनुसार इसका लक्ष्य सामाजिक या आर्थिक परिवर्तन नहीं बल्कि राजनीतिक परिवर्तन था। डॉ० बी०आर० अम्बेडकर के शब्दों में, ''26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभासों के जीवन के जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हम

समानता की बात करते है लेकिन सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में असमानता के जितनी जल्दी हो सके हमें इस विरोधाभास को दूर करना चाहिये।''

स्पष्ट है कि नये समाज के निर्माण के लिए भारत के प्रभु वर्ग ने क्रान्ति की जगह समन्वय का मार्ग चुना। प्रभु वर्ग की रणनीति थी कि निर्धन जनलोकतांत्रिक व्यवस्था को राजनीतिक औजार के रूप में इस्तेमाल कर सामाजिक व आर्थिक न्याय के युग का सूत्रपात करेंगे। इस रणनीति के अन्तर्गत असमानता व ग्रामीण विपन्नता को दूर करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। लेकिन तत्कालिन भूमि सम्बन्धों में मूलभूत बदलाव का जिक्र नहीं किया गया।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारत के संविधान को आधारभूत विचारधारा उदारवादी – प्रजातान्त्रिक थी। इसमें व्यवहारिकता का तत्व शामिल था। इसमें मौजूदा सामाजिक ढांचे में कोई महत्वपूर्ण बदलाव लाये बिना, समाज के सभी वर्गो के लिए आश्वासन था। भारत जैसे बहुलतावादी समाज को एकता के सूत्र में बांधने के लिए यह जरूरी भी समझा गया। भारत के राजनीतिक प्रभु वर्ग ने संसदीय प्रजातन्त्र को विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच गठबंधन, लोकनीति में निरन्तरता, एकता व अखण्डता, जवाबदेह प्रशासन, विधानमण्डल व कार्यपालिका में समन्वय और व्यापक हितों पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था के साधन के रूप में देखा। यह एक ऐसी राजनीति थी। जिसमें व्यक्तिवाद व सामूहिकता के बीच समन्वय कायम किया गया। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि भारत का संविधान उदारवादी परम्परा पर आधारित है। इसका कार्यात्मक रूप लोकतन्त्र के रूप में सामने आता है और इसका सामाजिक –आर्थिक आधार कल्याणकारी राज्य की धारणा के रूप में विकसित हुआ। संक्षेप में, भारत का संविधान पूंजीवाद, उदारवादी, कल्याणकारी प्रजातंत्र का एक मिश्रण है जिसमें आर्थिक शक्तियों को सीमित हाथों में रखा गया है तथा राजनीतिक अधिकारों का उदारता के साथ वितरण किया गया है।

2.2.4 निष्कर्ष

संविधान के विभिन्न प्रावधानों के सम्बन्ध में संविधान–निर्माताओं द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से यह नितान्त स्पष्ट है कि संविधान–निर्माता सिद्धांतवादिता के स्थान

पर व्यवहारिकता से प्रेरित थे। संविधान निर्माण के प्रत्येक पहलू पर विभिन्न मत और दृष्टिकोण प्रकट किए गए तथा वाद–विवाद में विभिन्न प्रवृतियों का उद्घाटन हुआ। संविधान सभा में अधिकांश निर्णय यथासंभव आम राय के लिए जाने की कोशिश की गई। इस संविधान की रचना में नेताओं ने पुराने और नए विचारों में अधिक से अधिक सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया गया।

2.2.5 मुख्य शब्दावली

- कोई नहीं

2.2.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय संविधान सभा की रचना एवं स्थिति के विषय पर प्रकाश डालिए।
2. संविधान सभा बनाने की क्या पृष्ठभूमि थी ? इसमें कार्य की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें कि संविधान सभा बनी और इसने काम किया। संविधान सभा की रचना का भी वर्णन कीजिए।
4. भारतीय संविधान के निर्माण में संविधान सभा द्वारा अपनाए गए सहमति तथा समायोजन के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
5. क्या आप इस बात से सहमत है कि संविधान सभा ने भारतीय संविधान बनाते समय सर्वसम्मति तथा समझौते के तरीके को अपनाया।
6. भारत में संविधान सभा की माँग का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
7. संविधान सभा ने गठन के विषय में कैबिनेट मिशन योजना का वर्णन कीजिए।
8. संविधान सभा की मांग सबसे पहले किसने की।
9. वर्तमान समय में भारतीय संविधान में कुल अनुच्छेद कितने है।
10. संविधान सभा का अन्तिम अधिवेशन कब हुआ।

2.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली

- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984

- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

2.3 भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble of Indian Constitution)

2.3.1 परिचय

जिस प्रकार किसी पुस्तक के आरम्भ में दी गई भूमिका को पढ़कर हमें यह ज्ञात होता है कि उस पुस्तक के पढ़ने से हमें कैसी जानकारी प्राप्त होगी, ठीक वैसी ही स्थिति संविधान में प्रस्तावना की है। प्रस्तावना के द्वारा संविधान में कही गई मूल बातों को प्रस्तुत किया जाता है। सन् 1789 संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में सर्वप्रथम प्रस्तावना को जोड़ा गया। इसके बाद जब भी किसी देश के संविधान का निर्माण किया गया तो सभी देशों के संविधानों में प्रायः प्रस्तावना को शामिल किया गया। जैसे स्विट्ज़रलैण्ड का संविधान 1874, आयरलैण्ड का संविधान 1937, जापान का संविधान 1946, चीन का संविधान 1954। अतः भारतीय संविधान में भी प्रस्तावना को शामिल किया गया, जो पंडित नेहरू द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य पर आधारित है। पण्डित नेहरू ने उद्देश्य प्रस्ताव 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान निर्मात्री सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया। 13 दिसम्बर से 19 दिसम्बर तक संविधान सभा ने इस पर विचार किया और 22 जनवरी, 1947 को इसे स्वीकार किया गया। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा संशोधित किया गया। इस संशोधन द्वारा इसमें 'समाजवाद', 'धर्म–निरपेक्ष' व अखंडता शब्द जोड़े गए।

2.3.2 उद्देश्य

- संविधान के मूल उद्देश्यों की गहनता को समझना
- प्रस्तावना की मुख्य विशेषताओं को जानना
- शासन व्यवस्था के आधारों को जानना
- संविधान के स्रोत क्या है ये जानना
- संविधान के लक्ष्यों को पहचानना

2.3.3 संविधान की प्रस्तावना

आज के युग में संविधान के आरम्भ करने से पहले प्रायः उसकी प्रस्तावना की व्यवस्था की जाती है प्रस्तावना एक प्रकार से संविधान की भूमिका होती है जिसमें संविधान के उद्देश्यों और आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख होता है। यद्यपि कानूनी दृष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं होती और इसे न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किया जा सकता परन्तु फिर भी इसका संवैधानिक महत्व कम नहीं होता। जब संविधान का कोई अंग संदिग्ध हो और उसका अर्थ स्पष्ट न हो तो न्यायालय उसकी व्याख्या करते समय प्रस्तावना संविधान बनाने वालों के मन की भावनाओं को बतलाती है। प्रस्तावना संविधान–निर्माताओं के मन की कुँजी है।

भारतीय संविधान–निर्माताओं ने भारत के संविधान के आरम्भ में प्रस्तावना दी है जिसमें संविधान के उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, जिसमें 42वें संशोधन द्वारा संशोधित किया जा चुका है, इस प्रकार है – ''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न समाजवादी, धर्म–निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए, संकल्प होकर अपनी संविधान सभा में आज तिथि 26 नवम्बर, 1946 के दिन इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्म समर्पित करते है।''

42वें संशोधन द्वारा मूल प्रस्तावना के वाक्य प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रारिक गणराज्य के साथ समाजवादी और धर्म निरपेक्ष दो न शब्द जोड़े गए हैं। राष्ट्र की एकता के स्थान पर राष्ट्र की एकता और अखण्डता शब्द रखे गए हैं।

संविधान की प्रस्तावना को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है –

1. संविधान का स्त्रोत (Source of the constitution)
2. शासन का प्रकार (Type of government)
3. संविधान के लक्ष्य (Objective of the constitution)
4. स्वीकृति एवं क्रियान्वयन की तिथि (Data of adoption and Enactment)

1. संविधान का स्त्रोत (Source of the constitution) : प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द यह इंगित करते है कि भारतीय संविधान का स्त्रोत जनता है। भारतीय शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित है तथा भारतीय जनता ने ही संविधान को अंगीकृत और अधिनियमित किया है। प्रस्तावना का सार बिन्दु यह है कि ''हम भारत के लोग भारत के संविधान को अंगीकृत और आत्मार्पित करते है। संविधान के किसी भी प्रावधान में पृथक से यह इंगित नहीं किया गया है शासन की समूची शक्तियाँ जनता से प्राप्त हुई है। अतः प्रस्तावना द्वारा प्रभुसत्ता के अधिवास की समस्या के विवाद की समाप्ति कर दी गई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नया संविधान किसी बाह्य शक्ति ने आरोपित नहीं किया हैं। अमरीका की भांति भारतीय संविधान के निर्माण में राज्य की बजाय भारत की जनता का सर्वोपरि हाथ है। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार, प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इनमें निहित प्राधिकार और प्रभुसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई हैं।

2. शासन का प्रकार (Type of Government) : प्रस्तावना में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्म–निरपेक्ष लोकतन्त्रीय गणराज्य घोषित किया गया है जिसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है –

- सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न राज्य (Sovereign State) : 15 अगस्त, 1947 के दिन आजादी मिलने पर भी भारत को कानूनी रूप में अधिराज्य का दर्जा ही प्राप्त था। ऐसा अधिराज्य जिसे स्वतन्त्रता की घोषणा करने का अधिकार था। नये संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बतलाकर अधिराज्य स्तर की समाप्ति बतलाई गई है। वास्तव में भारत 15 अगस्त 1950 को ही पूर्णतः स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बना। 15 अगस्त, 1947 से लेकर 26 जनवरी, 1950 तक ब्रिटेन का सम्राट भारत का भी सम्राट था तथा भारत का गवर्नर–जनरल उसका प्रतिनिधि था। 26 जनवरी, 1950 के दिन नए संविधान के लागू होने से ही यह व्यवस्था समाप्त हुई।

- समाजवादी राज्य (India is a Socialist State) : पहली बार नवम्बर 1976 में संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद के शब्द को जोड़ा गया जिसका समर्थन सभी वर्ग के लोगों ने किया। कांग्रेस पहले से ही भारत में प्रजातन्त्रीय समाजवाद की स्थापना करना अपना लक्ष्य घोषित कर चुकी थी। इसके साथ–ही–साथ संविधान में अंकित किए गए राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त समाजवाद का समर्थन करते हैं। समाजवाद का अर्थ है कि भारत में शासन व्यवस्था इस प्रकार चलाई जाए जिससे आर्थिक असमानता कम हो तथा इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न किया जाए जिसके द्वारा समाज के सभी वर्गो को अपना विकास करने के लिए समान अवसर प्रदान हो। देश के विकास का फल थोड़े से लोगों के हाथों में न रह कर, समाज के सभी वर्गो को बिना भेदभाव के प्राप्त हो। इसके साथ–साथ देश में जो आर्थिक असमानता पाई जाती है, उसे दूर करने के लिए उचित कदम उठाए जाए।

  समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही 42वें संशोधन के अन्तर्गत राज्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों से श्रेष्ठ घोषित किया गया। इसी संशोधन के द्वारा राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में कुछ अन्य समाजवादी सिद्धान्त शामिल किए गए।

- भारत एक धर्म–निरपेक्ष राज्य है (India is a Secular State) : 42वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में धर्म–निरपेक्ष शब्द जोड़ा गया। भारतीय संविधान में ऐसी व्यवस्था की गई हैं जो भारत को निःसन्देह धर्म–निरपेक्ष राज्य बनाती है। धर्म–निरपेक्ष का अभिप्रायः यह है कि भारत में सभी वर्गों को बिना किसी भेदभाव के अपनी इच्छा अनुसार अपने धर्म में विश्वास करने एवं उसका प्रचार करने का अधिकार होगा। लेकिन इसके साथ–साथ व्यक्ति कोई ऐसा कार्य न करेगा जिससे कि दसूरे व्यक्ति के धर्म में बाधा पड़े। इसी संदर्भ में राज्य किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा राज्य किसी विशेष धर्म की किसी प्रकार की सहायता नहीं करेगा। वस्तुतः राज्य का अपना कोई भी धर्म नहीं होगा।

- भारत एक लोकतन्त्रीय राज्य है (India is a Democatic State) : संविधान की प्रस्तावना में भारत की लोकतन्त्रीय राज्य घोषित किया गया है। देश में जनता के द्वारा राजशक्ति का प्रयोग किया जाएगा। राजशक्ति पर किसी एक वर्ण विशेष का एकाधिकार नहीं होगा। शासन का संचालन बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होगा। उन्हीं कानूनों को लागू किया जाएगा जिन्हें जनता का समर्थन प्राप्त होगा। राज्य में कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा और राज्य की सीमा में निवास करने वाले समस्त स्त्री–पुरुषों को समानता प्राप्त होगी। भारत ऐसा लोकतन्त्र होगा जिसमें अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होगी तथा समाज में आर्थिक शक्ति का समतायुक्त वितरण होगा ताकि किसी भी वर्ग का शोषण न हो। भारत में राजनैतिक लोकतन्त्र के साथ–साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र की भी व्यवस्था की गई है।
- भारत एक गणराज्य है (India is a Reublic State) : भारत एक गणराज्य है। गणराज्य वह राज्य होता है जिसका अध्यक्ष लोगों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो। उसका पद वंशानुगत या पैतृक नहीं होता। इंग्लैंड, नेपाल तथा जापान गणराज्य नहीं है क्योंकि इन राज्यों के अध्यक्ष लोगों द्वारा नहीं चुने जाते। अमेरिका का अध्यक्ष भारत की भांति जनता द्वारा निर्वाचित होता है। भारत में राज्य का अध्यक्ष राष्ट्रपति है जो अप्रत्यक्ष रूप से लोगों द्वारा निर्वाचित होता है। उसका चुनाव एक ऐसे निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है जिसमें संसद के दोनों सदनों के चुने हुए सदस्य और राज्य विधान सभाओं के सदस्य शामिल होते है। वे सदस्य लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। राष्ट्रपति को संसद में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा महाभियोग की कार्यवाही करके हटाया भी जा सकता है।

3. संविधान के उद्देश्य (Objectives of the Constitution) : प्रस्तावना में भारतीय गणराज्य के उद्देश्य बतलाए गए है जोकि इस प्रकार है –

- न्याय (Justice) : हमारे संविधान की प्रस्तावना में न्याय के उल्लेख का विशेष महत्व है। संविधान निर्माता इस बात से भली–भांति परिचित थे कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना में स्वतन्त्रता और समानता के इलावा न्याय अनिवार्य है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना में प्रयास करना राज्य का कर्तव्य माना गया है। सामाजिक न्याय से अभिप्रायः है कि मानव–मानव के बीच में जाति, वर्ण के आधार पर भेद न माना जाए और प्रत्येक नागरिक के उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हो। राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि दुर्बल वर्गो का शोषण रोके और उनके विकास के लिए कार्य करें। आर्थिक न्याय से अभिप्रायः है कि उत्पादन एवं वितरण के साधनों का न्यायोचित वितरण हो और धन सम्पदा का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण न हो जाए। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए समुदाय की भौतिक सम्पति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बांटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। राजनीतिक न्याय का अभिप्रायः है कि राज्य के अन्तर्गत समस्त नागरिकों को समान रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो। इस प्रकार प्रस्तावना में उपबन्धित न्याय के विचार से लोक–कल्याणकारी राज्य का विचार दृष्टिगोचर होता है और नागरिकों को जीवन के अन्य क्षेत्रों में न्याय का आश्वासन दिया जाता है।
- स्वतन्त्रता (Liberty) : प्रस्तावना में इस बात पर जोर दिया गया है कि राज्य समस्त नागरिकों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक स्वतन्त्रता से है। विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, संघ बनाना, सम्पत्ति रखना आदि नागरिक स्वतन्त्रताएँ हैं। मतदान में भाग लेना, प्रतिनिधियों को चुनना निर्वाचन में खड़ा होना, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, सरकारी नीतियों की आलोचना करना आदि राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ हैं। प्रस्तावना में नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है।

- समानता (Equality) : समानता से अभिप्रायः है कि अपने व्यक्ति के समुचित विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य–मनुष्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। सभी नागरिकों को देश के शासन विधान में समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा सम्पति के आधार पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध नहीं होना चाहिए। समान योग्यता और समान श्रम के लिए वेतन भी समान होना चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का अथवा एक वर्ग का दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।
- भ्रातृ–भाव (Fraternity) : प्रस्तावना में यह भी कहा गया है कि राज्य नागरिकों में आपसी भ्रातृ–भाव बढ़ाने का प्रयत्न करेगा ताकि भारत में मनुष्य–मनुष्य होने के नाते प्रतिष्ठा हो तथा भारतीय राष्ट्र में एकता की भावना बढ़े। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भ्रातृ–भाव शब्द का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीयों की सांस्कृतिक विभिन्नताओं को देखते हुए ऐसा उद्देश्य भारतीय संविधान की प्रस्तावना में दिया जाना स्वाभाविक ही था। एम०वी० पायली के शब्दों में, 'न्याय, स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर निर्मित नए राष्ट्र का उद्देश्य यह है कि सभी यह अनुभव करें कि वे एक ही धरती के बच्चे हैं, उनकी मातृभूमि एक हैं तथा उनका एक ही भ्रातृ–भाव है।
- व्यक्तिगत गौरव को स्थापित करने का विश्वास (Assuring the Dignity of Individuals) : प्रस्तावना में व्यक्ति के गौरव को बनाए रखने के लिए व्यवस्था की गई है। स्वतन्त्रता से पहले अंग्रेजों ने भारतीयों के गौरव को मान्यता प्रदान नहीं की। भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। आजादी के बाद भारतीयों में गौरव को बनाए रखने के लिए प्रस्तावना में इस बात को अंकित किया गया कि बिना गौरव अनुभव किए कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। इस तरह से संविधान की प्रस्तावना के द्वारा भारत में व्यक्तिगत गौरव को स्थापित रखा जाएगा। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियों को मौलिक अधिकार समान रूप से दिए गए है।

- राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता की स्थापना (Estability of the Unity and Integrity of the Motion) : अंग्रेजों की फूट डालो राज करो शासन की नीति के कारण भारत का विभाजन हुआ था, इसलिए संविधान–निर्माता भारत की एकता को बनाए रखने के बड़े इच्छुक थे। वस्तुतः संविाान की प्रस्तावना में राष्ट्र की एकता को बनाए रखने की घोषणा की गई। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारत को धर्म–निरपेक्ष राज्य बनाया गया, सभी नागरिकों को भारत की नागरिकता प्रदान की गई तथा सारे देश के लिए एक ही संविधान को अपनाया गया। 42वें संशोधन के द्वारा प्रस्तावना में राष्ट्र की एकता के साथ अखण्डता शब्द जोड़ा गया है।

4. संविधान को अंगीकृत करने की तिथि (Date of Adoption of the Constitution) : संविधान की प्रस्तावना से हमें इस बात का भी पता चलता है कि हमारा संविधान कब तैयार हुआ तथ हमने इसे कब अपनाया। संविधान सभा ने जो कार्य 9 दिसम्बर, 1946 को आरम्भ किया था, वह 26 नवम्बर, 1949 को सम्पन्न हुआ तथा उस दिन संविधान सभा ने भारतीय लोगों के नाम पर संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्म–अर्पित किया। परन्तु यह संविधान पूर्ण रूप से दो महीने के बाद 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ।

2.3.4 निष्कर्ष

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने नव–निर्माण की भूमिका में एक नए और सुव्यवस्थित समाज की कल्पना की है। यह बड़े सौभाग्य और सन्तोष की बात है कि हमारे संविधान के निर्मातागण भी उन्हीं श्रेष्ठ आदर्शो के समर्थक रहे, जिनके द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखते हुए भी सामाजिक उत्थान और सामाजिक न्याय की स्थापना सम्भव होती है। भारतीय संविधान की सफलता का मुख्य कारण उसकी उद्देशिका का व्यापक परिप्रेक्ष्य, उदारवादी दर्शन तथा लचीला स्वरूप है।

2.3.5 मुख्य शब्दावली

- प्रभुसत्ता सम्पन्न : कोई भी राज्य जब किसी भी आन्तरिक व बाहरी शक्ति से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है उसे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य कहते हैं।
- धर्मनिरपेक्षता : राज्य का अपना कोई धर्म न होना कानूनी दृष्टि से सभी धर्मो का समान होना चाहिए।
- गणराज्य : राज्य के मुखिया का एक निश्चित समय के बाद जनता के द्वारा निर्वाचन होना।
- सामाजिक न्याय : समाज का सदस्य होने के नाते एक–दूसरे व्यक्ति में धर्म, जाति, नस्ल, रंग आदि के आधार पर भेदभाव ना होना।
- समाजवाद : सभी लाभों और संसाधनों का समाज के प्रत्येक वर्गो में उचित बंटवारा।

2.3.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. संविधान की प्रस्तावना का क्या अर्थ है ? भारतीय संविधान की प्रस्तावना की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. भारतीय संविधान की स्थापना की व्याख्या कीजिए।
3. भारतीय संविधान के लिए प्रस्तावना एक नींव का पत्थर है। इस प्रकार कथन के प्रकाश में प्रस्तावना के महत्व की चर्चा करें।
4. ''प्रस्तावना भारतीय संविधान की कुंजी है।'' इस कथन के संदर्भ में भारतीय संविधान की प्रस्तावना की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निहित सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए। उनका क्या महत्व है ?
6. भारतीय संविधान की प्रस्तावन के महत्व पर प्रकाश डालिए।
7. क्या प्रस्तावना में संशोधन किया जा सकता है ?
8. धर्म निरपेक्ष राज्य का क्या अर्थ है ?
9. क्या भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है ?

10. किस संवैधानिक संशोधन के द्वारा प्रस्तावना में संशोधन किया गया।

2.3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999

- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

2.4 मौलिक अधिकार और मौलिक कर्त्तव्य
(Fundamental Rights and Fundamental Duties)

2.4.1 परिचय

किसी राज्य के द्वारा अपने नागरिकों के जीवन के विकास हेतु कितनी सुविधाएं दी गई है। इसी के आधार पर किसी राज्य के अच्छे या बुरे होने की दशा तय की जाती है। अधिकार किसी भी राज्य के आधार होते है तथा संसार का कोई भी देश उस समय तक उन्नति के शिखर तक नहीं पहुँच सकता, जब तक उसके नागरिकों को सभ्य जीवन व्यतीत करने के लिए अच्छी सुविधाएं न दी जाए। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय जनता को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। अनेक स्वतन्त्रता सेनानियों के संघर्ष के बाद जब हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो हमें अपना संविधान बनाने का अधिकार मिला। तब लोगों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए संविधान के तीसरे भाग में मौलिक अधिकारों को स्थान दिया गया। लगभग सभी प्रजातन्त्रीय देशों में अपने नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए गए है।

2.4.2 उद्देश्य

- मौलिक अधिकारों की उपयोगिता को जानना
- मौलिक अधिकारों पर लगाई गई सीमाओं का मूल्यांकन करना
- मौलिक अधिकारों में संसद द्वारा संशोधन सम्बन्धों प्रावधानों को जानना
- व्यक्ति के विकास में अधिकारों का किस प्रकार महत्व है ये जानना
- भारत में लागू मौलिक अधिकारों के अब तक के सफर की परिस्थितियों का मूल्यांकन

2.4.3 मौलिक अधिकार व कर्त्तव्य

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की माँग यह थी कि भारत के हर व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। 1918 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह माँग की

थी कि चैम्सफोर्ड रिर्पोट में भारत के लोगों के अधिकारों की घोषणा होनी चाहिए। 1928 में एक सर्वदलीय समिति बनी। श्री मोती लाल नेहरू उस समिति के प्रधान थे। उन्होंने एक रिर्पोट पेश की जिसमें स्पष्ट तौर पर कहा गया कि सबसे जरूरी काम यह है कि मौलिक अधिकारों की गारन्टी दी जाए और उनके संविधान में इस प्रकार जोड़ दिया जाये कि किसी भी हालत में उनको वापिस न लिया जा सके। 1931 में कांग्रेस पार्टी का एक अधिवेशन करांची में हुआ। इस अधिवेशन में मौलिक अधिकारों की एक घोषणा को स्वीकार किया गया। इस घोषणा में राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का जिक्र तो था ही लेकिन सामाजिक व आर्थिक अधिकारों को भी शामिल किया गया था। 1945 में सप्रू कमेटी ने भी सुझाव दिए थे। इस कमेटी का कहना था कि भविष्य में भारत का जो संविधान बने उसमें दो प्रकार के अधिकार जरूर होने चाहिए। एक तो वे अधिकार जो न्याय संगत (Justiciable) हो और दूसरे वे जो न्याय संगत न (Non-Justiciable) हो।

हमारी संविधान सभा में इस बात पर एक मत था कि हमारे संविधान में मौलिक अधिकार का पूरी तरह से वर्णन किया जाए और सारे मौलिक अधिकार पूरी तरह से उसमें शामिल किए जाये। जो मौलिक अधिकारों का अध्याय था उसमें राजनीतिक और नागरिक अधिकारों को शामिल किया गया।

मौलिक अधिकारों को संविधान में क्यों रखा गया

(Why Fundatmental Rights were incorporated in Indian Constitution)

जब संविधान सभा में मौलिक अधिकारों के विषय पर विचार हुआ तो किसी सदस्य ने भी मौलिक अधिकारों के संबंध में विरोध नहीं किया। मौलिक अधिकारों की सूची तैयार करने के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता में एक विशेष समिति बनाई गई थी जिसमें विभिन्न अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि भी शामिल थे। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर प्रारूप समिति ने मौलिक अधिकारों का एक अलग अध्याय तैयार किया और उसे संविधान में स्थान दिया। संविधान में मौलिक अधिकारों को शामिल करने के निम्नलिखित कारण थे –

1. यह बात आधुनिक राजनैतिक विचारधारा के अनुरूप थी

हमारे संविधान निर्माताओं ने मौलिक अधिकारों को संविधान में इसलिए शामिल किया क्योंकि बहुत से अन्य देशों में ऐसी परम्परा स्थापित हो चुकी थी। अमेरिका के संविधान में मौलिक अधिकारों को स्थान दिया गया था। पहले महायुद्ध के बाद जर्मनी के 1919 के वाईमर संविधान, 1922 के आयरलैंड के संविधान, 1936 के रूस के संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की जा चुकी थी। भारतीय संविधान निर्माता इस आधुनिक राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित हुए बिना न रह सके तथा उन्होंने मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया।

2. यह भारतीय राजनीतिज्ञों की पुरानी माँग थी

भारतीय राजनीतिज्ञों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भारतीयों के लिए मौलिक अधिकारों की माँग की थी। 1927 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करने की माँग की थी। 1928 में नेहरू समिति की रिर्पोट में इस माँग को फिर दुहराया गया। 1930 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया था। 1945 में सप्रू कमेटी ने अपनी रिर्पोट में मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल करने पर विशेष बल दिया। अतः यह स्वाभाविक था कि जब स्वतन्त्र भारत का नया संविधान तैयार किया जाता तो उसमें मौलिक अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

बहुसंख्यकों के अत्याचार रोकने के लिए, मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल किए जाने का एक कारण यह था कि नागरिकों के अधिकारों की बहुसंख्यकों के अन्यायपूर्ण और अत्याचारी व्यवहार से रक्षा की जा सके। बहुसंख्यक साधारण कानून की प्रक्रिया द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों में अनुचित हस्ताक्षेप न करें। यदि मौलिक अधिकारों को संविधान में रखा जाए तो बहुसंख्यक उसे आसानी से बदल नहीं सकते तथा जनता उनके अत्याचार से बची रहती है।

अल्पसंख्यकों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल करने का एक अन्य कारण भारतीय अल्पसंख्यकों में विश्वास पैदा करना था। भारत के विभाजन के समय देश में जो रक्तपात हुआ था, उससे अल्पसंख्यक भयभीत हो चुके थे। इसलिए उनका भय दूर करने और उनका पुनः विश्वास प्राप्त करने के

लिए संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक था। श्री के०एम० मुन्शी ने ठीक ही कहा है कि मौलिक अधिकार अल्पसंख्यकों की समस्याओं का समाधान करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं उनके राज्य के अन्दर राज्य बनाने के खतरे को दूर करते है और उन्हें विदेशी राज्यों में सुरक्षा प्राप्त करने की ओर देखने से रोकते है।

3. प्रजातन्त्रीय शासन का आधार

मौलिक अधिकारों को इसलिए भी संविधान में शामिल किया गया क्योंकि वह लोकतन्त्रीय शासन को प्रभावशाली ढंग से चलाने के लिए अत्यावश्यक है। लोकतन्त्र का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि शासन लोगों की भलाई के लिए लोगों की इच्छानुसार चलाया जाए। राज्य की सबसे बड़ी समस्या यह होती हैं कि लोगों की इच्छा को कैसे जाना जाए और इस इच्छा के अनुसार शासन कैसे चलाया जाए। इसके लिए लोगों को सार्वजनिक मामलों पर अपने विचार प्रकट करने, सभा करने, जलूस निकालने, सरकार को प्रार्थना–पत्र देने, संघ और संगठन बनाने, देश के किसी भाग में घूमने–फिरने आदि की स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं। उन्हें जीवन, निजी स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होता है। भारत के संविधान में इन सभी मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है।

4. मनोवैज्ञानिक कारण

संविधान में मौलिक अधिकारों का समावेश मनोवैज्ञानिक कारणों से भी किया गया है। इससे नागरिकों में यह भावना पैदा होती है कि उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसर प्रदान किए गए है। इससे नागरिकों में एक नैतिकता का विकास होता है अतः उनमें साहस की, अन्यायों के विरूद्ध संघर्ष करने की तथा अपना विकास करने की भावना पैदा होती है।

मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ : भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ इस प्रकार है –

विस्तृत अधिकार–पत्र : भारतीय अधिकार–पत्र की प्रथम विशेषता यह है कि यह एक विस्तृत अधिकार–पत्र है। उदाहरणतः 2–3 अनुच्छेदों में जिनकी आगे जाकर कई

धाराएँ, नागरिकों के अधिकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उदाहरणतः अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया हैं तथा इसके 6 भाग है जिनमें नागरिकों की 6 विभिन्न स्वतन्त्रताओं, उनके अपवादों आदि का विस्तृत वर्णन है ऐसा ही विस्तृत वर्णन अन्य अनुच्छेदों में किया गया है।

सभी नागरिकों के समान अधिकार : मौलिक अधिकार जाति, धर्म, नस्ल, रंग, लिंग आदि के भेदभाव के बिना सभी नागरिकों को प्राप्त है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों में कोई भेद नहीं। यह सभी पर समान रूप से लागू होते है और कानूनी दृष्टि से सभी नागरिकों के लिए सुरक्षित हैं सरकार इन पर उचित प्रतिबन्ध लगाते समय नागरिकों में भेदभाव नहीं कर सकती।

अधिकार पूर्ण और असीमित नहीं है : कोई भी अधिकार असीमित नहीं हो सकता। उसका प्रयोग दूसरों के हित को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। अधिकार सापेक्ष होते है तथा उनका प्रयोग सामाजिक प्रसंग में ही किया जा सकता है। इसलिए हमारे संविधान में सरकार को राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, सार्वजनिक नैतिकता तथा लोक कल्याण की दृष्टि से मौलिक अधिकारों पर समय की आवश्यकता अनुसार उचित प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार दिया गया है।

अधिकतर नकारात्मक अधिकार : भारतीय अधिकार–पत्र में लिखित अधिकतर नकारात्मक अधिकार है। दूसरे शब्दों में इन अधिकारों द्वारा राज्य पर प्रतिबन्ध तथा सीमाएँ लगाई गई है, उदाहरणतः राज्य पर यह सीमा लगाई गई है कि राज्य जाति, धर्म, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा तथा न ही सरकारी पद पर नियुक्ति करते समय ऐसा कोई भेदभाव करेगा। परन्तु इसके साथ ही कुछ अधिकार सकारात्मक रूप में भी दिए गए हैं। उदाहरणतः स्वतन्त्रता का अधिकार जिस द्वारा नागरिकों को भाषण तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता समुदाय निर्माण करने की स्वतन्त्रता किसी जगह रहने तथा कोई भी पेशा अपनाने की स्वतन्त्रता आदि प्रदान की गई है।

अधिकार संघ, राज्यों तथा अन्य सरकारी संस्थाओं पर समान रूप से लागू है : मौलिक अधिकारों के भाग में ही संविधान राज्य शब्द की व्याख्या की गई है तथा यह

कहा गया है कि राज्य शब्द के अर्थ है – संघ, प्रान्त एवं स्थानीय संस्थाएँ। इस तरह अधिकार–पत्र द्वारा लगाई गई सीमाएँ संघ, प्रान्त एवं स्थानीय संस्थाओं – नगरपालिका तथा पंचायतों पर भी लागू है। इन सभी संस्थाओं को मौलिक अधिकारों द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर कार्य करना होता है।

भारतीय नागरिकों विदेशियों में अन्तर : भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में नागरिकों तथा विदेशीयों में भेद किया गया है। कुछ मौलिक अधिकार ऐसे है जो नागरिकों तथा विदेशियों को समान रूप से प्राप्त है जैसे कानूनी समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार ऐसे है जो नागरिकों को तो प्राप्त है परन्तु विदेशियों को नहीं जैसे – भाषण देने और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, घूमने–फिरने और देश के किसी भी भाग में रहने की स्वतन्त्रता।

अधिकार स्थगित किये जा सकते है : हमारे संविधान में अधिकारों को संकटकाल में स्थगित किये जाने की व्यवस्था की गई है। बाहरी आक्रमण की सम्भावना से उत्पन्न होने वाले संकट का सामना करने के लिए राष्ट्रपति सम्पूर्ण भाग अथवा भारत के किसी भाग में संकटकालीन घोषणा कर सकता है तथा ऐसी व्यवस्था में नागरिक के अधिकारों को स्थगित कर सकता है।

मौलिक अधिकार न्यायसंगत है : मौलिक अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू किए जाते हैं मौलिक अधिकारों को लागू करवाने के लिए संविधान में विशेष व्यवस्थाएँ की गई है। संवैधानिक उपायों का अधिकार मौलिक अधिकारों में विशेष रूप से शामिल है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी नागरिक जिसके मौलिक अधिकारों का उल्लंघन हो, हाई कोर्ट अथवा सुप्रीम कोर्ट से अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अपील कर सकता है। हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए कई प्रकार के लेख जारी करते हैं। यदि मौलिक अधिकारों का उल्लंघन सिद्ध हो जाए तो वे किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सरकार द्वारा की गई गलत कार्यवाही को अवैध घोषित कर सकते है।

संसद अधिकारों को कम कर सकती है : संविधान के द्वारा संसद मौलिक अधिकारों वाले अध्याय सहित समूचे संविधान में संशोधन कर सकती है। यहाँ यह

उल्लेखनीय है कि संसद साधारण कानूनों द्वारा मौलिक अधिकारों में किसी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकती। यदि संसद कोई ऐसा कानून बनाती है तो वह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा रद्द कर दिया जाएगा। अभिप्रायः यह है कि संवैधानिक संशोधन द्वारा ही संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती हैं। राज्य विधान मण्डलों को मौलिक अधिकारों में कमी करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है। धारा 368 में दी गई कार्यवाही से मौलिक अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है। इसके लिए संसद की कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा दोनों सदनों में से प्रत्येक में उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत का होना अनिवार्य है। लेकिन 1967 में गोलकनाथ मुकद्मों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि संसद को मौलिक अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति नहीं हैं। 24वें संशोधन द्वारा संसद की इस शक्ति को मान्यता दे दी गई तथा 24 अप्रैल 1973 को केशवनन्द भारती के केस में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्देश दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है।

संविधान के अतिरिक्त और अधिकारों का न होना :

अमेरिका संविधान में यह व्यवस्था है कि नागरिकों को न केवल वे अधिकार प्राप्त है जो कि संविधान में दिए गए है अपितु उनके अतिरिक्त वे सब अधिकार भी नागरिकों को प्राप्त हैं जो कि नागरिकों के पास प्राचीन समय से हैं। दूसरे शब्दों में, अमेरिका के संविधान द्वारा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता प्रदान की गई है। भारतीय संविधान में ऐसे सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से खण्डन किया गया है। यह स्पष्ट कहा गया है कि नागरिकों को केवल वे ही अधिकार प्राप्त है जो कि संविधान में दिए गये हैं। संविधान में दिए अधिकारों के अतिरिक्त किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी गई है।

मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए विशेष संवैधानिक व्यवस्था

भारतीय संविधान की धारा 32 में लिखा है कि भारत में किसी भी अधिकारी द्वारा यदि किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को छिनने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह व्यक्ति अपने अधिकारों को लागू कराने के लिए उचित विधि द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के

लिए विभिन्न प्रकार के लेख (Writs) जैसे हैबियस कारपस (Habeas Corps), मण्डामस (Mandmus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार प्रच्छा (Quowarrants) तथा उत्प्रेषण आदेश (Writ of Certiorari) आदि जारी करने का अधिकार है।

सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों का अभाव

भारतीय अधिकार पत्र में सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों, उदाहरणतया काम करने का अधिकार, आराम का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार आदि शामिल नहीं किए गए हैं। यह व्यवस्था साम्यवादी, संविधानों के अनुरूप नहीं है। हाँ, इन अधिकारों को निर्देशक सिद्धान्तों के अधीन रखा गया है।

शस्त्रधारी सेनाओं के अधिकार सीमित किए जा सकते है

संविधान के अनुच्छेद 33 के अनुसार संसद सेनाओं में अनुशासन को बनाए रखने के लिए मौलिक अधिकारों में अनुशासन को बनाए रखने के लिए मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है। संसद पुलिस, सीमा सुरक्षा आदि के विषय में उचित व्यवस्था कर सकती है।

भारतीय संविधान में अंकित मौलिक अधिकार (Fundamentals Rights enshrined in the Indian Constitution)

भारतीय संविधान के अध्याय 3 में धारा 12 से 35 तक 7 प्रकार के मौलिक अधिकर दिये गये थे। लेकिन 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा सम्पति का अधिकार मौलिक अधिकारों से निकाल कर एक साधारण अधिकार मान लिया गया है। इस प्रकार अब भारतीय नागरिकों को निम्न 6 अधिकार प्राप्त है –

1. समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18 तक)
2. स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22 तक)
3. शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24 तक)
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28 तक)
5. सांस्कृतिक तथा शिक्षा के सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 29 से 30 तक)
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

अनुच्छेद 12 में शब्द 'राज्य' की परिभाषा की गई है जिसका अर्थ है कि केन्द्रीय कार्यपालिका, संसद राज्य की सरकारें और विधान सभाओं के अतिरिक्त, भारत के संविधान में स्थित सभी स्थानीय सरकारें तथा अन्य विभाग सम्मिलित हैं, जिन पर भारत सरकार का नियन्त्रण स्थापित है। अनुच्छेद 13 के दो अर्थ है, एक तो इसके अन्तर्गत संविधान लागू होने के समय से पहले प्रचलित वे सब कानून रद्द कर दिये गये है जो संविधान द्वारा दिए गए मौलिक अधिकारों के विरोधी थे। दूसरे इसी धारा के अन्तर्गत राज्य पर संविधान द्वारा प्रदान किए गये मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने तथा उन्हें छीनने जाने वाला कानून बनाने पर प्रतिबन्ध लगाना है। लेकिन इस धारा को ऐसे अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानून को गैर–कानूनी घोषित करने का अधिकार नहीं हैं, जिसका उल्लेख संविधान के तीसरे अध्याय में नहीं किया गया है।

अनुच्छेद 12, 13 के अतिरिक्त 33, 34 तथा 35 धाराएँ भी मौलिक अधिकारों में सम्मिलित है। धारा 33 के द्वारा संसद को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि वह सेनाओं में अनुशासन आदि बनाये रखने के लिए नियम बनाते समय इन अधिकारों में संशोधन कर सकती है। धारा 34 के अनुसार मार्शल लॉ की स्थिति में अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाए जाने की व्यवस्था की गई है। ऐसी स्थिति में लोगों के जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि के अधिकार छीने नहीं जा सकते है। धारा 35 का सम्बन्ध ऐसे कानूनों से है, जिनका उद्देश्य मौलिक अधिकारों को लागू करना है।

समानता का अधिकार (Right to Equality) अनुच्छेद 14 से 18 तक समानता का अधिकार एक महत्वपूर्ण मौलिक अधिकार है। यह प्रजातन्त्रीय शासन की आधारशीला है। विश्व की कई क्रान्तियाँ समानता और स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित हुई है। यद्यपि राज्य के लिए मनुष्यों के जीवन के प्रत्येक पहलू में समानता स्थापित करना सम्भव नहीं है परन्तु फिर भी राज्य समानता के लिए कुछ परिस्थितियाँ अवश्य उत्पन्न कर सकता है। प्रथम, एक समाज में विशेषाधिकारों को समाप्त कर सकता है। दूसरे यह प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान कर सकता है। भारतीय संविधान में नागरिकों को निम्नलिखित प्रकार की समानता प्रदान की गई है –

कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14) (Equality before Law) : अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत के राज्य–क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। अनुच्छेद के प्रथम भाग के शब्द 'कानून के समक्ष समानता ब्रिटिश सामान्य विधि की देन हैं और इसके द्वारा राज्य पर यह बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। सर आइवर जैनिंग्ज के अनुसार इसका अर्थ है कि ''समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के साथ कानून का व्यवहार एक–सा होना चाहिए।'' कानून का समान संरक्षण शब्द अमेरिका के संविधान से लिया गया है। इसका अर्थ है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है।

कानून के समक्ष समानता का अर्थ यह नहीं है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती है। यदि कानून कर लगाने के सम्बन्ध में धनी और गरीब में तथा सुविधाएँ प्रदान करने में स्त्रियों और पुरुषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म–स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15) (Prohibition of discrimination of grounds of Religion, Race, Caste, Sex or Place of Birth)

कानून के समक्ष समानता के साथ–साथ अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि ''राज्य के द्वारा धर्म, मूल–वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में भेदभाव नहीं किया जाएगा।'' कानून के द्वारा निश्चित किया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों जैसे कुओं, तालाबों, स्नानगृहों, सड़कों आदि पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

सार्वजनिक सेवाओं में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) (Equality of Opportunity in Matters of Public Employment)

अनुच्छेद 16 के अनुसार ''सब नागरिकों को सरकारी पद पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूल–वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाएगा।'' इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दे। संसद कानून द्वारा संघ में शामिल राज्यों को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दे। इसी प्रकार सेवाओं में पिछड़े हुए वर्गो के लिए स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

छुआछात की समाप्ति–अनुच्छेद 17 (Abolition of untouchbility) : सामाजिक समानता को और अधिक पूर्णता देने के लिए अस्पृश्यता का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि ''अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता का लागू करना एक दण्डनीय अपराध होगा हिन्दू समाज से अस्पृश्यता के विष को समाप्त करने के लिए संसद के द्वारा 1955 में अस्पृश्यताअपराध अधिनियम (Untouchability Effences Act) पारित किया गया है जो पूरे भारत पर लागू होता है। इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

उपाधियों की समाप्ति–अनुच्छेद 18 (Abolition of Titles) : ब्रिटिश काल में सम्पति आदि के आधार पर उपाधियाँ प्रदान की जाती थी जो सामाजिक जीवन में भेद उत्पन्न करती थी। अतः वर्तमान संविधान में इनका निषेध कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 में यह दिया गया है कि ''सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियों के इलावा राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं कर सकता।'' इसके साथ ही भारत का कोई नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 18 की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद भारत 1950 में से ही भारत रत्न, पद्मभूषण और पद्मश्री आदि उपाधियाँ भारत सरकार द्वारा प्रदान की जाती थी। मार्च 1977 में जनता पार्टी की सरकार के गठन के बाद महान्यायवादी ने परामर्श दिया कि ये उपाधियाँ अनुच्छेद 18 की धारा 1, 2 और 3 के शब्दों तथा भावना के अनुरूप नहीं है। अतः जुलाई 1977 में संसद द्वारा एक विधेयक पारित कर इन उपाधियों को समाप्त

कर दिया गया। 1980 में राजनीतिक स्थिति में फिर से परिवर्तन के साथ संसद के द्वारा एक प्रस्ताव पारित कर पुनः इस प्रकार की उपाधियाँ प्रदान करना शुरू कर दिया गया है।

स्वतन्त्रता का अधिकार – अनुच्छेद 19 से 22 तक (Right to Freedom) : मौलिक अधिकारों में स्वतन्त्रता का अधिकार बड़ा महत्वपूर्ण अधिकार है। हमारे संविधान में अनुच्छेद 19 से 22 तक में नागरिकों को जो स्वतन्त्रताएँ दी गई है, उन्हें सामूहिक रूप में स्वतन्त्रता का अधिकार कहा गया है। इन स्वतन्त्रताओं को 'संविधान का प्राण व आत्मा' कहा गया है। इस क्षेत्र में हमारे संविधान निर्माताओं ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सार्वजनिक सत्ता के बीच समझौता कराने का प्रयास किया है। यदि एक और व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं की गणना की गई तो दूसरी और सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए राज्य द्वारा लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों का वर्णन है।

धारा 19 के द्वारा भारतीय नागरिकों को 7 स्वतन्त्रताएँ दी गई थी जिसमें छठी स्वतन्त्रता, सम्पति प्राप्त करने तथा उसे बेचने की स्वतन्त्रता थी। परन्तु 44वें संशोधन द्वारा सम्पति के अधिकार के साथ–साथ सम्पति की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी गई। अब धारा 19 के अन्तर्गत नागरिकों को छः स्वतन्त्रताएँ प्राप्त है जो इस प्रकार है –

भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता (Right to Freedom of Speech and Expression) : भारत के सभी नागरिकों को विचार प्रकट करने, भाषण देने और अपने तथा अन्य व्यक्तियों के विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। मूल संविधान में भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता का क्षेत्र बहुत व्यापक था और अपमान लेख तथा वचन, न्यायालय अवमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात और राज्य की सुरक्षा के हित में ही इसे सीमित किया जा सकता था। रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी व्याख्या भंग करने के कामों को उपर्युक्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। इसलिए संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को और सीमित कर दिया गया और अब राज्य जिन आधारों पर विचार और

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर युक्ति–युक्त प्रतिबन्ध लगा सकता हैं, वे इस प्रकार है – राज्यों की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार, न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध के लिए उतेजित करना। 1963 के 16वें संशोधन द्वारा स्वतन्त्रता पर एक और प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। अब यदि कोई व्यक्ति भारत से उसके किसी भाग को अलग करवाने का प्रचार करे, तो राज्य के द्वारा उसकी विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। संक्षेप में, अनुच्छेद 19 (2) में निम्नलिखित आधारों पर उल्लेख है। जिसके आधार पर नागरिकों की भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं।

(i) राज्य की सुरक्षा, (ii) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में, (iii) लोक व्यवस्था, (iv) शिष्टाचार या सदाचार के हित में, (v) न्यायालय अवमान, (vi) मानहानि, (vii) अपराध के लिए उत्तेजित करना, (viii) भारत की प्रभुता एवं अखण्डता।

प्रेस भी विचार और अभिव्यक्ति का ही एक साधन है। आपातकाल में प्रेस पर संसद और राज्य विधान मण्डलों की कार्यवाहियों के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई थी। अब 44वें संशोधन द्वारा संविधान में व्यवस्था की गई हैं कि प्रेस संसद तथा विधान मण्डलों की कार्यवाही को प्रकाशन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य के द्वारा इस सम्बन्ध में प्रेस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकेगा।

हड़ताल करने का अधिकार अनुच्छेद 19 (i) (क) के अन्तर्गत कोई मूल अधिकार नहीं है। अतएव किसी भी व्यक्ति को हड़ताल करने से रोका जा सकता है। प्रदर्शन जब हड़ताल का रूप धारण कर लेता है तो वह विचारों की अभिव्यक्त करने का साधन मात्र नहीं रह जाता है।

शान्तिपूर्ण तथा बिना शस्त्रों के सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता (Freedom to Assemble Peacefully and Without Arms) : व्यक्तियों द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिए शान्तिपूर्वक और बिना शास्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है। उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी

असीमित नहीं है। राज्यों के द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में इस स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

संस्था तथा संघ बनाने की स्वतन्त्रता (Freedom to form associations and Unions) : संविधान के द्वारा सभी नागरिकों को संस्थाओं और संघ के निर्माण की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन यह स्वतंत्रता भी उन प्रतिबन्धों के आधीन हैं, जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगा सकता है। इस स्वतन्त्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों या संस्थाओं का निर्माण नहीं कर सकता जो षड्यन्त्र करे अथवा शान्ति और व्यवस्था को भंग करे।

भारत राज्य क्षेत्र में अबोध भ्रमण की स्वतन्त्रता (Freedom to Move Freely Throughout the Territory of India) : भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार–पत्र के सम्पूर्ण भारत के क्षेत्र में घूम सकते हैं। इस अधिकार पर राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों के हित में इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

भारत के किसी भाग में रहने तथा बसने की स्वतन्त्रता (Freedom to Reside and Settle in any part of the Terriotory of India) : भारत के सभी नागरिक अपनी इच्छानुसार स्थाई या अस्थाई रूप से भारत के किसी भी स्थान पर बस सकते हैं। निवास के सम्बन्ध में संविधान द्वारा की गई यह व्यवस्था इकहरी नागरिकता के नितान्त अनुरूप है। लेकिन राज्य के द्वारा सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों के हित में इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

कोई भी व्यापार पेशा करने एवं व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता (Freedom to Practice any Prosfession or Carry on any occupation, Trade or Business) : संविधान ने सभी नागरिकों को व्यापार, पेशा करने एवं व्यवसाय करने की स्वतंत्रता दी है। लेकिन राज्य जनता के हित में इन स्वतंत्रताओं पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य किन्ही व्यवसायों के करने के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर सकता है अथवा किसी करोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्वयं अपने हाथ में ले सकता है।

इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदान की गई उपर्युक्त स्वतन्त्रताएँ असीमित नहीं है और इनमें से प्रत्येक पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों द्वारा इन प्रतिबन्धों की आलोचना की गई थी। प्रो० के०टी० शाह ने कहा था, ''वास्तव में, 19वें अनुच्छेद द्वारा प्रदान की गई ये स्वतन्त्रताएँ इतनी सन्देहपूर्ण हो गई है कि इन स्वतन्त्रताओं की खोज करने के लिए दूरबीन का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।'' सरदार हुकमसिंह और कुछ अन्य सदस्यों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। लेकिन विद्वान् व्यक्तियों ने इन तर्कों के बावजूद असीमित स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार नहीं किया। वास्तव में, एक सभ्य समाज के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को असीमित रूप से कोई अधिकार या स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती है। इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी ये स्वतन्त्रताएँ इस दृष्टि से सुरक्षित है कि इन स्वतन्त्रताओं पर केवल युक्तियुक्ता प्रतिबन्ध ही लगाए जा सकेंगे और प्रतिबन्ध की युक्तियुक्ता औचित्यता का निर्णय न्यायालय ही करेगा।

42वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा संसद को अधिकार दिया गया था कि उसके द्वारा राष्ट्र विरोधी समुदायों और गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। शासक दल के प्रभाव में संसद के द्वारा इस शक्ति का दुरूपयोग किया जा सकता है। अतः 43वें संवैधानिक संशोधन (1977) द्वारा संसद की इस शक्ति को समाप्त कर दिया गया है। अपराध के दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण अनुच्छेद 20 (Protection in respect of Conviction for Offences) : अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि ''किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।'' इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्ड दिया जा सकता है और किसी अपराध में अभियुक्त व्यक्ति का स्वयं अपने विरूद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा – अनुच्छेद 21 (Protection of Life and Personal Librety) : अनुच्छेद 21 में जीवन के अधिकार को मान्यता दी गई है। इसमें कहा गया है कि ''किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा दैहिक स्वाधीनता से

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता। 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल में भी जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

गिरफ्तारी एवं नजरबन्दी के विरूद्ध रक्षा – अनुच्छेद 22 (Protection against Arrest and detention in Certain Cases) : अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए है। इसमें कहा गया है कि उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बतलाए बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रखा जाएगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार होगा तथा बन्दी बनाए जाने के बाद 24 घण्टे के अन्दर–अन्दर उसे निकटतम न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया जाएगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार प्रदान किए गए हैं वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे। प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय निवारक, नजरबन्दी अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।

शोषण के विरूद्ध अधिकार : अनुच्छेद 23 तथा 24 (Right Against Exploitation) : अनुच्छेद 23 तथा 24 के अन्तर्गत नागरिकों को शोषण के विरूद्ध अधिकार दिया गया हैं इसके परिणामस्वरूप भारत का कोई नागरिक किसी दूसरे नागरिक का शोषण नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 23 द्वारा मानव के क्रय–विक्रय (Traffic in Human Beings) तथा बेगार की मनाही कर दी गई है और इस व्यवस्था का किसी प्रकार से कोई उल्लंघन कानून के अनुसार दंडनीय अपराध माना जाएगा। भारत के अनेक शताब्दियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान थी जिसके अनुसार हरिजनों मजदूरों तथा स्त्रियों आदि पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार किए जाते थे नए संविधान के अन्तर्गत शोषण के इन सभी रूपों की कानून के अनुसार दण्डनीय घोषित कर दिया गया है।

लेकिन इस अधिकार का एक अपवाद है। सार्वजनिक कार्यो के लिए सरकार अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकती है तथा संकट अथवा युद्ध के समय प्रत्येक

योग्य व्यक्ति को सेना में भर्ती होने के लिये विवश कर सकती है। लेकिन ऐसा करने में सरकार व्यक्तियों में धर्म, जाति, नस्ल तथा वर्ग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगी।

अनुच्छेद 24 में यह कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को किसी कारखाने, खान या अन्य किसी ऐसे जोखिम वाले काम पर नहीं लगाया जा सकता। भारत के विभिन्न भागों में शोषण बन्धक मजदूरों के रूप में प्रचलित था जिसे समाप्त करने के लिए सरकार के द्वारा कुछ कदम उठाए गए है। इस प्रकार शोषण के विरूद्ध अधिकार का उद्देश्य एक वास्तविक सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार : अनुच्छेद 25 से 28 तक (Right to Freedom of Religion) : भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया हैं इन धाराओं के अन्तर्गत स्वतन्त्रताओं का उल्लेख बहुत अधिक व्यापक शब्दों में और धार्मिक अल्पसंख्यकों की पूर्ण सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है।

अन्तःकरण की स्वतन्त्रता : 25 धारा में कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुये सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा कोई भी धर्म अंगीकार करने उसका अनुसरण एवं प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा। सिक्खों द्वारा कृपाण धारण करना और लेकर चलना धार्मिक स्वतन्त्रता का अंग माना गया है।

धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने का अधिकार : धारा 26 प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को निम्न अधिकार प्रदान करती है।

1. धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थाओं की स्थापना और उनके पोषण का अधिकार।
2. धर्म सम्बन्धी निजी मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार।
3. चल तथा अचल सम्पति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।
4. उत्तम सम्पति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार।

धार्मिक व्यय के लिए निश्चित धन पर कर की अदायगी से छूट : धारा 27 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है, जिसकी आय किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण के व्यय करने के लिए विशेष रूप से निश्चित कर दी गई है।

राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिद : भारत राज्य का स्वरूप धर्म निरपेक्ष राज्य का है, जिसे धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि राजकीय विधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा। अन्य अधिकारों की भाँति ही धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगाए गए है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य आदि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार सम्बन्धी कार्य भी कर सकता है, चाहे ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप ही क्यों न करना पड़े।

सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार : अनुच्छेद 29 और 30 (Cultural and Educational Rights) : हमारे संविधान के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अधिकार भी दिया गया है। धारा 29 के अनुसार, नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह भी कह दिया गया हैं कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्था में प्रवेश के सम्बन्ध में मूलवंश जाति, धर्म और भाषा या इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा।

धारा 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गो को अपनी रूचि की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गई है कि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक

वर्ग के अधीन है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पति के मौलिक अधिकार को समाप्त करने का जो काम किया है उसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अल्पसंख्यकों के अपनी रूचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा इन संस्थाओं के प्रशासन के अधिकार पर कोई आघात नहीं पहुंचेगा।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार : अनुच्छेद 32 (Right to constitutional Remedies) संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मौलिक अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संविधान निर्माताओं ने इस उद्देश्य से संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका अर्थ है कि नागरिक अधिकारों को लागू करने के लिए उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की शरण ले सकता है। इन न्यायालयों के द्वारा विधानपालिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनों और कार्यपालिका के कार्यो को असंवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा। जो मौलिक अधिकारों के विरूद्ध है। संवैधानिक उपचारों के अधिकार की व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा था, ''यदि कोई मुझ से पूछे कि संविधान का वह कौन–सा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्य प्राय हो जाएगा तो इस अनुच्छेद (32) को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की और संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का ह्रदय तथा आत्मा है।'' भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश गजेन्द्र गडकर ने 'इसे भारतीय संविधान का सबसे प्रमुख लक्षण' और संविधान द्वारा स्थापित 'प्रजातान्त्रिक भवन' की आधारशिला कहा है।

उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित निर्देश आदेश या रिट जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा, उत्प्रेषण और समान प्रकार की रिट शामिल हैं, जारी करने की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के पवित्र कार्य का पालन करने वाले सजग प्रहरी के समान है।'' संक्षेप में, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किए जा सकते है –

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है यह समझा जाता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय, बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि बन्दी बनाए गए व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बन्दी बनाये जाने के कारणों पर विचार कर सके। दोनों पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैद्य है या अवैद्य और अवैद्य है तो न्यायालय बन्दी को फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार अनुचित एवं गैर–कानूनी रूप से बन्दी बनाए गए व्यक्ति बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते है।
2. पदमादेश (Mandamus) : यह लेख उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता। इस प्रकार के आज्ञापत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्त्तव्य का पालन करने का आदेश जारी किया जाता है।
3. प्रतिषेध (Prohibition) : यह आज्ञापत्र उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्द्ध न्यायिक न्यायाधिकरणों को जारी करते हुए आदेश दिया जाता है कि इस मामले में अपने यहाँ कार्यवाही स्थगित कर दें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर है।
4. उत्प्रेषण (Certiorar) : यह लेख अधिकतर किसी विवाद को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है। जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपयोग न करें या अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते हुये न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्तों को भंग न करे। इस लेख के आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायाधीशों से किन्हीं विवादों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त कर सकते है।
5. अधिकार पृच्छा (Quo-warrants) : जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से

अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार – पृच्छा के आदेश द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पद पर कार्य कर रहा हैं और जब तक वह इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

व्यक्तियों द्वारा साधारण परिस्थितियों में भी न्यायालयों की शरण लेकर अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा की जा सकती है, लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थितियों में, जबकि राष्ट्रपति के द्वारा संकट काल की घोषणा कर दी गई हो, मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं कर सकेगा। इस प्रकार संविधान के द्वारा संकट काल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों (जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को छोड़ कर) को स्थापित करने की व्यवस्था की गई है।

मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन (Evaluation of Fundamental Rights)

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है –

1. मौलिक अधिकारों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है जिन्हें मौलिक अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी के काम करने का अधिकार कुछ परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार और निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार आदि में रखा जा सकता है।

   लेकिन उपर्युक्त आलोचना करने वाले व्यक्ति भूल जाते है कि किसी भी देश के संविधान द्वारा देश में विद्यमान साधनों के आधार पर ही अधिकार दिए जा सकते हैं और भारतवर्ष के पास इतने आर्थिक साधन नहीं है कि अब तक भी इन अधिकारों को लागू किया जा सके। इतना होने पर भी भारतीय संविधान के निर्माता इन अधिकारों की और से उदासीन नहीं थे, इसलिए उन्होंने इन अधिकारों को उन नीति निर्देशक सिद्धान्तों में स्थान दिया, जिन्हें लागू करना शासकों का परम कर्तव्य समझा गया है।

2. आलोचकों का कथन है कि भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के साथ इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए है कि यह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मौलिक अधिकारों से क्या मिला। संविधान सभा में ही सरदार हुकमसिंह ने कहा था कि 'यदि हम स्वतन्त्रताओं को व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ देते है जो कि एक राजनीतिक दल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, तो इन स्वतन्त्रताओं के अस्तित्व में भी सन्देह हो जाएगा।'' इस समूह के आलोचक कहते है कि संविधान एक हाथ से मौलिक अधिकार देता है और दूसरे हाथ से प्रतिबन्धों के माध्यम से उन्हें ले लेता है।

लेकिन इन श्रेणी के आलोचक भूल जाते है कि असीमित स्वतन्त्रता और अधिकार प्रदान करना न तो सम्भव है और न ही हितकर। मौलिक अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध लगाए जाऐगे उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है और प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति विधानपालिका या कार्यपालिका को नहीं, वरन् न्यायपालिका को प्रदान की गई है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व न्यायाधीश छागला अपनी पुस्तक 'Law, Liberty and Life' में लिखते है कि ''यह कहा है कि हमारा संविधान एक हाथ से अधिकार प्रदान करता है और दूसरे से असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धों को सीमित कर इन्हें वापस ले लेता है मेरे विचार से यह आलोचना उचित नहीं। भारतीय संविधान के द्वारा असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धों के माध्यम से मौलिक अधिकारों को सीमित कर दिया हैं, परन्तु संविधान के द्वारा इस प्रकार के प्रतिबन्धों से औचित्य के निर्णय के माध्यम से मौलिक अधिकारों को सीमित कर दिया है, परन्तु संविधान के द्वारा इस प्रकार के प्रतिबन्धों से औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका को सौंपी गई है और न्यायपालिका स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायापालिका पर भरोसा कर सकते हैं।''

3. संविधान के द्वारा संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका को मौलिक अधिकारों के स्थगन का जो अधिकार दिया गया है और संकटकाल के अतिरिक्त सामान्य परिस्थितियों में भी निवारक निरोध की जो व्यवस्था की गई

है वह आलोचना का विषय रही है। श्री हरिविष्णु कामथ ने इन व्यवस्थाओं का विरोध करते हुए संविधान सभा में कहा था, ''इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही राज्य की और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे है।'' इसी प्रकार संविधान सभा के सदस्य श्री सोमनाथ लाहिडि ने कहा था कि ''भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था पुलिस के सिपाही के दृष्टिकोण से की गई है, न कि एक स्वतन्त्र तथा संघर्षशील राष्ट्र ही दृष्टि से।''

लेकिन संविधान की व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुए यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कहीं अधिक मूल्यवान है। शासन को मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण का अधिकार केवल आकस्मिक परिस्थितियों में ही प्राप्त है और ऐसी परिस्थिति अल्पकालिक ही होती है। इस दृष्टि से मौलिक अधिकारों के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए ही आवश्यक है। श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था के सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा था, ''यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यदि व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नहीं वरन् रक्षा होगी।

मौलिक संविधान के अन्तर्गत संकटकालीन परिस्थितियों में मौलिक अधिकारों के स्थगन की जो व्यवस्था की गई, उसके सम्बन्ध में यह आशा की गई थी कि शासन के द्वारा अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में ही कम समय के लिए ही इस शक्ति का प्रयोग किया जाएगा लेकिन जून 1975 में लागू किए गए और 19 माह तक जारी रहने वाले आपातकाल में इस शक्ति का निश्चित रूप से दुरूपयोग किया गया। इस दुरूपयोग ने यह आशंका उत्पन्न की कि भविष्य में भी ऐसा किया जा सकता हैं। अतः 44वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर ऐसी कुछ व्यवस्थाएँ की गई है जिससे शासन द्वारा अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करते हुए नागरिक अधिकार और स्वतन्त्रताओं पर अनावश्यक और अनुचित प्रतिबन्ध न लगाए जा सकें।

मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्थाएं कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में आवश्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गई है।

ऐसी स्थिति में मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियों और न्यायालयों द्वारा पर्याप्त सजगता का परिचय दिया जाना चाहिए।

मौलिक कर्तव्य (Fundamental Duties)

भारत का संविधान संविधान सभा द्वारा निर्मित करके 26 जनवरी, 1950 को कार्यान्वित किया गया था, उसमें मौलिक कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं था। भारत जैसे नये लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक था कि जहाँ संविधान द्वारा नागरिकों को मौलिक अधिकार दिये गए है। वहाँ नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य भी निश्चित किए जाऐं। इसी उद्देश्य की पूर्ति संविधान के 42वें संशोधन द्वारा 1976 में की गई। संविधान में नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों से सम्बन्धित अनुच्छेद 51 क और भाग चार (क) जोड़े गए और इनकी संख्या 10 थी। वर्तमान में मौलिक कर्त्तव्यों की संख्या 2002 में 86वें संवैधानिक संशोधन के बाद 11 हो गई है। ये मौलिक कर्तव्य इस प्रकार है –

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि –

1. वह संविधान का पालन करे और राष्ट्रीय ध्वज एवं राष्ट्रीय गान का आदर करें।
2. स्वतंत्रता संग्राम के दौर में जिन आदर्शो को अपनाकर काम लिया गया था, जिनसे प्रेरणा मिली थी, उन पर चलना।
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता का समर्थन तथा सुरक्षा करना।
4. देश की सुरक्षा तथा समय आने पर राष्ट्रीय सेवा के लिए तैयार रहना।
5. धार्मिक, भाषायी और प्रादेशिक या वर्गीय विभिन्नताओं को त्याग कर भारत के सारे लोगों में मेल–मिलाप तथा बन्धुता की भावना को विकसित करना तथा स्त्रियों को हानि करने वाली प्रथाओं का त्याग करना।
6. अपनी मिली–जुली संस्कृति की सम्पन्न परम्परा का सम्मान करना और उसे सुरक्षित रखना।
7. वनों, झीलों, नदियों और वन्य जीवन जैसे प्राकृतिक वातावरण को उन्नत करना और उनकी रक्षा करना तथा जीव–जन्तुओं के प्रति दया रखना।
8. वैज्ञानिक प्रवृति, मानवता तथा अन्वेषण और सुधार की भावना को विकसित करना।

9. सार्वजनिक सम्पति की रक्षा करना और हिंसा को त्यागने का प्रण करना।

10. व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्य–कलापों के क्षेत्र में कुशलता का प्रयत्न करना जिससे कि राष्ट्र उच्चतम उपलब्धियों के शिखर पर पहुँच सके।

11. प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के लिए अभिभावकों के लिए कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वे छः से चौदह वर्ष के अपने बच्चों को शिक्षा का अवसर प्रदान करें।

मौलिक कर्त्तव्यों का महत्व (Significance of Fundamental Duties) : भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्तव्यों का सपना ही महत्व है। इनकी महता निम्नलिखित है –

1. वे भारतीय संविधान में रह गई कमी को दूर करते हैं (They remove lacuna from Indian constitutions) : मूल भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का वर्णन तो किया गया था परन्तु उनसे सम्बन्धित मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख नहीं किया गया था। फलस्वरूप भारतीय नागरिक अपने अधिकारों के प्रति तो जागृत रहे परन्तु वे अपने कर्तव्यों को भूला बैठे। उनमें दूसरे नागरिकों तथा देश के प्रति जिम्मेदारियों की भावना का विकास न हो पाया। इस कारण राष्ट्र उन्नति के उच्च शिखर पर न पहुँच सका। मौलिक कर्तव्यों का संविधान में शामिल किया जाना इस कमी को दूर करता है। ये कर्तव्य भारतवासियों को यह बात सदा याद दिलाते रहेंगे कि उनका देश, दूसरे कर्तव्यों और अपने प्रति कुछ जिम्मेदारियाँ है तथा उन्होंने उन्हें पूरा करना है।

2. कर्तव्यों की आधुनिक धारणा के अनुकूल हैं (They are in confirmily units the modern concept of duties) : मौलिक कर्तव्यों का संविधान में शामिल किया जाना आधुनिक विचारधारा के अनुकूल है। आधुनिक विचारधारा के अनुकूल है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार अधिकार और कर्तव्य साथ–साथ चलते है। वे एक ही चीज के दो पहलू है। जो एक के अधिकार है वे ही दूसरे के कर्तव्य है और जो दूसरों के अधिकार है वे पहले के कर्तव्य है। कर्तव्यों के संसार में ही अधिकांश का महत्व है।

3. वे अविवादास्पद सिद्धान्त हैं (They are non-Contravresial Principles) : भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्त्तव्य अविवादास्पद हैं। वे ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके बारे में राजनीति के विद्वानों में कोई मतभेद नहीं और जिन्हें कोई भी नागरिक अपनी राजनैतिक सम्बद्धता को एक तरफ रखते हुए बिना हिचकिचाहट के अपना सकता है। ये कर्त्तव्य भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वे भारतवासियों के लिए प्रकाश स्तम्भ और मार्ग–दर्शक का कार्य करेगें और उन्हें उच्च आदर्शो की प्राप्ति के लिए प्रेरित करते रहेंगे।

4. उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व है (They have psychological significance) : मौलिक कर्त्तव्यों का संविधान में शामिल किया जाना नागरिकों के लिए मनोवैज्ञानिक महत्त्व रखता है। ये कर्त्तव्य लोगों के मन में राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति जागृति पैदा करेंगे।

अन्त में यह कहा जा सकता हैं कि भारत में संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों को अंकित करना पूरी तरह से उचित है। भारत में लोकतन्त्र की स्थापना एकदम दासता के बाद हुई है। इसलिए यह उचित है कि भारत के नागरिकों को उनके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराया जाए। भारतीय जनता इन कर्त्तव्यों को निश्चित रूप से अपनाएगी, जिससे की भारतीय लोकतन्त्र की जड़े और मजबूत होगी।

मौलिक कर्त्तव्य की आलोचना (Criticism of Fundamental Duties) : भारतीय विद्वानों ने मौलिक कर्त्तव्यों की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की हैं –

1. मौलिक कर्त्तव्य केवल पवित्र इच्छाएँ हैं (Fundamental Duties are mere pious wishes) : आलोचकों का कहना है कि भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्त्तव्य केवल पवित्र इच्छाएँ है। इन्हें लागू करने के बारे में कोई व्यवस्था नहीं की गई। वे नागरिकों को कुछ कार्य करने और कुछ न करने का आदेश देते हैं, लेकिन इन निर्देशों को लागू करने के लिए कोई उपाय नहीं किए गए। सरदार स्वर्ण सिंह कमेटी ने मौलिक कर्त्तव्यों को लागू करने के लिए संसद द्वारा उचित कानून बनाने की सिफारिश की थी, परन्तु 42वें संशोधन में

सरकार ने मौलिक कर्त्तव्यों को व्यवहारिक रूप देने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की है।

2. वे अस्पष्ट हैं (They are Vague) : मौलिक कर्त्तव्यों में कुछ कर्त्तव्य ही अस्पष्ट हैं जिसके कारण साधारण लोग उनको नहीं समझ सकते। उदाहरण के लिए, संविधान में आदर्शो के प्रति आदर करना एक कर्त्तव्य है। परन्तु संविधान के क्या आदर्श हैं और किस प्रकार उनका आदर किया जाए – यह स्पष्ट नहीं किया गया। इसी प्रकार दृष्टि कोण में वैज्ञानिकता, सुधार की भावना का विकास करना आदि ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका अर्थ लोग भिन्न–भिन्न लगा सकते हैं। इससे कर्त्तव्यों की अस्पष्टता ज्ञात होती है।

3. कुछ एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य छोड़ दिए गए हैं (Some of the important duties have been left out) : मौलिक कर्त्तव्यों वाले अध्याय में कुछ एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों का अभाव है। संसद के सदनों में जब 42वें संशोधनों के मौलिक कर्त्तव्यों के अनुच्छेद के विषय में वाद–विवाद हो रहा था तो संसद सदस्यों ने सुझाव दिया था कि अनिवार्य मतदान, अनिवार्य शिक्षा, परिवार नियोजन आदि विषयों को भी मूल कर्त्तव्यों में शामिल किया जाए। लेकिन इन कर्त्तव्यों को छोड़ दिया गया। इस प्रकार मौलिक कर्त्तव्य अपूर्ण दिखाई देते है।

4. कानून द्वारा सुरक्षित न होना (Non-Justiciable) : नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य कानून द्वारा सुरक्षित नहीं रखे गए, यद्यपि इसके लिए स्वर्ण सिंह कमेटी ने सुझाव दिया था और लोक सभा के कई सदस्यों ने इसका समर्थन भी किया था। कानून द्वारा सुरक्षित न होने के कारण वे मौलिक कर्त्तव्य अव्यवहारिक प्रतीत होते है।

5. मौलिक कर्त्तव्यों का संविधान में देरी से शामिल किया जाना (Delayed inclusion of Fundamental Duties in the Constitutions) : आलोचकों ने मौलिक कर्त्तव्यों की इस आधार पर आलोचना की है कि इनको संविधान में बहुत देरी के बाद रखा गया हैं। यदि इनको मूल संविधान में रखा गया जाता तो लोगों में अधिक कर्त्तव्य–परायणता की भावना पैदा होती।

2.4.4 निष्कर्ष

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वर्तमान लोकतन्त्रात्मक युग में मौलिक अधिकारों का विशेष महत्त्व है, इसलिए किसी को भी मौलिक अधिकारों को सीमित करने अथवा उनको छीनने का अधिकार नहीं होना चाहिए, परन्तु जनता की सामाजिक व आर्थिक भलाई के लिए, यदि आवश्यकता पड़े तो संसद को परिस्थितियों के अनुसार मौलिक अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार होना चाहिए।

2.4.5 मुख्य शब्दावली

- बन्दी प्रत्यक्षीकरण : इसके द्वारा न्यायालय, बन्दी बनाए गए व्यक्ति के बन्दी बनाए गए कारणों को जानने के लिए आदेश देता है, उस अधिकारी ने जिसने उसे बन्दी बनाया है। बन्दी को 24 घण्टे के अन्दर न्यायालय के सामने पेश करना।
- परमादेश : यह आदेश उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता।
- अधिकार पृच्छा : जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है।
- छुआछूत : एक सामाजिक बुराई जो भारतीय समाज के विकास के लिए एक बहुत बड़ी रूकावट थी। यह सामाजिक असमानता का घृणित रूप था। इसे अनुच्छेद 17 के द्वारा समाप्त किया गया।

2.4.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय संविधान में अंकित मौलिक अधिकारों की आलोचनात्मक समीक्षा करें।
2. भारतीय संविधान में वर्णित अधिकारों की मुख्य विशेषताओं एवं महत्व का वर्णन करे।
3. भारतीय संविधान में वर्णित विभिन्न मौलिक अधिकारों का वर्णन कीजिए।
4. भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों का आलोचनात्मक व्याख्या करें। क्या संसद इन अधिकारों को सीमित कर सकती है ?

5. ''भारत का संविधान एक हाथ से मौलिक अधिकार देता है और दूसरे से छीन लेता है।'' आप इस कथन से किस हद तक सहमत है।
6. भारतीय संविधान द्वारा दिए गए मौलिक अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन करें। क्या यह अधिकार निरकुंश या असीमित है।
7. भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक कर्त्तव्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
8. भारतीय संविधान में 42वें संशोधन द्वारा सम्मिलित किए गए मौलिक कर्त्तव्यों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
9. भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक कर्त्तव्यों के महत्त्व पर प्रकाश डालिये।
10. भारतीय संविधान में वर्णित समानता के अधिकार का वर्णन कीजिए।
11. संविधान के अनुच्छेद 19 में दी गई स्वतन्त्रताओं का उल्लेख कीजिए।
12. संवैधानिक उपचारों के अधिकारों का वर्णन करें।
13. क्या भारतीय संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है।
14. कौन–सा एक मौलिक अधिकार आपातकाल में भी स्थगित नहीं किया जा सकता ?

2.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970

- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001

- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

2.5 राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त

(Directive Principles of State Policy and Fundamental Duties)

2.5.1 परिचय

हमारे संविधान की एक प्रमुख विशेषता नीति निर्देशक तत्व है। ये निर्देशक तत्व हमने आयरलैण्ड के संविधान से लिए है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान में केवल राज्य के संगठन की व्यवस्था एवं अधिकार–पत्र का वर्णन नहीं किया है, वरन् वह दिशा भी निश्चित की है। जिसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न भविष्य में भारत राज्य को करना है। संविधान–निर्माताओं का लक्ष्य भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था और इसलिए उन्होंने नीति निर्देशक तत्वों में ऐसी बातों का समावेश किया, जिन्हें कार्य रूप में परिणत किये जाने पर एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना सम्भव हो सकती है। निर्देशक तत्व हमारे राज्य के सम्मुख कुछ आदर्श उपस्थित करते है, जिनके द्वारा देश के नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उत्थान हो सकता है। संविधान की प्रस्तावना द्वारा भारत के नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय प्रदान करवाने का लक्ष्य इन आदेशों की क्रियान्वित किये जाने पर ही पूर्ण हो सकता है। ये निर्देशक तत्व एक प्रकार से राज्य के लिए नैतिकता के सूत्र है तथा देश में स्वस्थ एवं वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना की दिशा में प्रेरणा देने वाला है।

2.5.2 उद्देश्य

- राज्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों से कैसे कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकती है
- भारत में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की सफलता का मूल्यांकन
- भारत में इन सिद्धान्तों के माध्यम से कैसे आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना की जा सकती है

- क्या राज्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों को न्यायालय द्वारा लागू करवाया जा सकता है

2.5.3 राज्य–नीति के निर्देशक सिद्धांत

संविधान के भाग IV में राज्य–नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन हैं। निर्देशक सिद्धान्तों की विचारधारा को आयरलैण्ड के 1937 के संविधान से ग्रहण किया गया है। आयरलैण्ड के संविधान में इसी प्रकार के प्रावधान है।

संविधान के इस भाग में 16 अनुच्छेदों (36 से 51) के समूह में संविधान–निर्माताओं ने उन आदर्शों, अधिकारों तथा सिद्धान्तों को लिखा जो कि वे भारत तथा भारतीयों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक समझते थे। संविधान के भाग III में उन्होंने भारत के लिए राजनैतिक लोकतन्त्र का आधार, स्थापित किया तथा भाग IV में उन्होंने भारत में आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र लाने के लिए राज्य के सम्मुख कुछ आदर्श रखे जिन्हें कि राज्य–नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का नाम दिया गया।

राज्य–नीति के निर्देशक सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जिन्हें व्यवहार में अपनाने के उद्देश्य को सामने रखकर ही राज्यों की अपनी नीति का निर्माण करना होता है। यह वह सिद्धान्त है जिन पर चलकर ही भारत में एक पूर्ण कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकती है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि राज्य में राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना के साथ–साथ आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना की जाए। राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र की आधारशीला पर ही स्थायी रह सकता है। संविधान द्वारा भारत में राजनैतिक लोकतन्त्र की व्यवस्था कर संविधान–निर्माताओं ने भारत में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए इस भाग में राज्य के लिए विशेष निर्देश लिखे। डॉ० अम्बेडकर के शब्दों में, ''निर्देशक सिद्धान्त देश में आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के उद्देश्य से विशेषतः बनाए गए है।'' संविधान की प्रस्तावना में वर्णित न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृ–

भाव के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए इन सिद्धान्तों को संविधान में दिया गया।

संविधान–निर्माण सभा के लगभग सभी सदस्यों ने संविधान में इस सिद्धान्त को शामिल करने का समर्थन किया। कुछ सदस्यों ने तो यहाँ तक कहा कि इन सिद्धान्तों को संविधान की प्रस्तावना के एकदम बाद दिया जाना चाहिए। कुछ सदस्यों के मत में इन सिद्धान्तों का नाम बदलकर इन्हें 'राज्य के मौलिक सिद्धान्तों (Fundamental Principles of State)' का नाम देना चाहिए। कहने का अर्थ है कि संविधान सभा में इन सिद्धान्तों के महत्व पर काफी अधिक बल दिया गया। मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित सलाहकार समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में इन सिद्धान्तों के शामिल किये जाने का सुझाव दिया।

राज्य–नीति के निर्देशक सिद्धान्त न्यायालय द्वारा कानूनी रूप से पर्वतनीय नहीं है। राज्य को इन्हें लागू करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। फिर भी संविधान में स्पष्ट किया गया है कि देश की शासन व्यवस्था को चलाने में ये तत्व मौलिक हैं और कानून बनाने में इन सिद्धान्तों को लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है (अनुच्छेद 37)। मौलिकता के इस दृष्टिकोण को देखते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि कुछ निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने में ये सिद्धान्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। ग्रेनवेल ऑस्टिन ने इस सिद्धान्तों को सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक बताया है। उनके शब्दों में, ''राज्य की इन सकारात्मक बाध्यताओं को स्थापित कर संविधान सभा ने आम जनता के हित के लिए व्यक्तिगत स्वन्त्रता और जन–कल्याण के बीच माध्यम मार्ग बनाने, कुछ व्यक्तियों को विशेषाधिकार प्रदान न करने और सभी नागरिकों को समान रूप से सत्ता में सहभागिता प्रदान करने का उत्तरदायित्व भारत की आगामी सरकारों को सौंपा।

इस प्रकार निर्देशक सिद्धान्त सरकार के विभिन्न अंगों के लिए कार्य–नीति निर्धारित करते है। इन्होंने देश के प्रशासन के लिए एक आदर्श स्थापित किया है और लोगों को आशन्वित किया हैं कि भारत में राज्य की भूमिका सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करना है।

निर्देशक सिद्धान्तों का स्वरूप

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित अध्याय में कुल 19 उद्देश्यों का उल्लेख हैं, जिनके अंतर्गत राज्य को अनेक कल्याणकारी उपाय करने हैं। इनका उद्देश्य नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध कराना, जीवन–स्तर में सुधार करना, जन–स्वास्थ्य में सुधार करना, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराना और यह सुनिश्चित करना है कि आर्थिक प्रणाली के क्रार्यान्वयन से सम्पति एवम् उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न होने पाए।

निर्देशक सिद्धान्तों का लक्ष्य राज्य के कुछ कर्त्तव्य निर्धारित कर आम जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान कराना है। यह निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

1. राज्य के विकास के अनुरूप एक सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित करना (अनुच्छेद 38)
2. निम्नलिखित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राज्य की नीति को निर्देशित करना :

- सभी नागरिकों, महिलाओं और पुरूषों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें,
- समुदाय के भौतिक संसाधनों का नियन्त्रण और स्वामित्व इस प्रकार वितरित किया जाए जिससे जन–हित का अधिकतम लाभ हो सकें,
- आर्थिक प्रणाली के संचालन से सम्पति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न होने पर जो आम जनता के लिए हानिकारक हो,
- महिलाओं और पुरूष दोनों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन हो,
- कामगारों महिलाओं और पुरूषों तथा कम उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य और कार्यशक्ति का दुरूपयोग न हो और आर्थिक परेशानी के कारण नागरिकों को ऐसे व्यवसाय न करने पड़े जो उनकी आयु और स्वास्थ्य के प्रतिकूल हों,

- बच्चों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण के स्वस्थ विकास करने के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ और बच्चों व युवाओं की शोषण तथा नैतिक और भौतिक परिणाम से रक्षा की जाए (अनुच्छेद 39)।

3. समान न्याय और निःशुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराना (अनुच्छेद 39 क)
4. ग्राम पंचायतों की स्थापना करना (अनुच्छेद 40)
5. काम के अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा बेरोजगारी की अवस्था में सार्वजनिक सहायता, वृद्धावस्था, बिमारी एवं अवस्था और अन्य अवांछनीय मामलों में सहायता करने को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी प्रावधान करना (अनुच्छेद 41)
6. कार्य करने की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं और महिलाओं को गर्भावस्था के समय आराम करने का अधिकार उपलब्ध कराना (अनुच्छेद 42)
7. कामगारों को दैनिक जीवन भत्ते इत्यादि उपलब्ध कराना (अनुच्छेद 43)
8. सरकारी उपक्रमों के प्रबन्ध में कर्मचारियों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए उचित वैधानिक अथवा अन्य व्यवस्था करना (अनुच्छेद 43 क)
9. समस्त भारत के नागरिकों के लिए एक समान संहिता सुनिश्चित करना (अनुच्छेद 44)
10. 14 वर्ष के बालकों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रावधान (अनुच्छेद 45)
11. अनुसूचित जातियों / अनुसूचित जनजातियों और कमजोर वर्गों के लिए शैक्षिक और आर्थिक रूचि विकसित करना (अनुच्छेद 46)
12. पोषण की मात्रा तथा जीवन स्तर में वृद्धि करना और जन–कल्याण में सुधार करना (अनुच्छेद 47)
13. कृषि और पशु–पालन का विकास (अनुच्छेद 48)
14. पर्यावरण का संरक्षण एवं उसमें सुधार करना और देश की जन सम्पदा एवं वन्य जीवन की सुरक्षा करना (अनुच्छेद 48 क)

15. राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, ऐतिहासिक स्थलों एवं वस्तुओं की सुरक्षा करना (अनुच्छेद 48 क)

16. न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के लिए समुचित कार्यवाही करना (अनुच्छेद 50)

17. अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बढ़ावा देना।

- राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत एवं सम्मानजनक सम्बन्ध बनाए रखना।
- अन्य संगठित संगठनों के साथ कार्य–व्यापार में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों एवं सन्धियों को पूरा सम्मान करना।
- अन्तर्राष्ट्रीय विवादोंका समाधान मध्यस्थता द्वारा करने के लिए प्रेरित करना (अनुच्छेद 51)

निर्देशन सिद्धान्तों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों द्वारा राज्य को यह निर्देश दिए गए है कि वह अपनी नीति इस प्रकार बनाए जिससे जन–कल्याण के लिए बड़े पैमाने पर उपाय किए जा सके। जरूरी नहीं है कि ये एक समान हों। कुछ उपाय पहले से मौलिक अधिकारों में दी गई व्यवस्थाओं में विस्तार कर सकते है। संविधान में 14 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण व्यवस्था भी की गई है। अन्य निर्देशक सिद्धान्तों से भिन्न इसके लिए संविधान लागू होने की तारीख से 10 वर्ष का समय दिया गया है जिससे इस वास्तविकता का पता चलता है कि बड़े पैमाने पर लोगों को साक्षर करना लोकतन्त्र का मुख्य आधार रखा गया था।

मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों के बीच सम्बन्ध (Relation Between Fundamental Rights and Directive Principles) : मौलिक अधिकार तथा निर्देशक सिद्धान्तों के बीच गहरा सम्बन्ध है तथा सम्बन्ध समय परिस्थिति एवं शासक वर्ग की मंशा के अनुसार बदलता रहा है।

1950 से 1966 के काल में नीति निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए मौलिक अधिकारों में संशोधन किया गया। इस समय के दौरान इस दृष्टिकोण का

विकास हुआ कि नीति निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों की तुलना में निम्न स्थिति रखते है। फिर भी इस मान्यता का विकास हुआ कि निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए मौलिक अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है। मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराइजन के मामले में उच्चतम न्यायालय के सामने यह प्रश्न विचारार्थ आया कि मौलिक अधिकार और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों के विरोध की स्थिति में किसको प्राथमिकता दी जाए। न्यायालय ने निर्णय दिया कि ऐसी स्थिति में मौलिक अधिकार निर्देशक सिद्धान्तों पर अभिभावी (Overide) होंगे। न्यायालय ने कहा कि ''नीति निर्देशक सिद्धान्त जिन्हें अनुच्छेद 37 द्वारा स्पष्ट तौर से न्यायालयों द्वारा अपर्वनीय घोषित किया गया है, भाग तीन में दिए गए उपबन्धों पर अभिव्यक्ति नहीं हो सकती जिन्हें धारा 32 के अन्तर्गत अनुचित लेखों या निर्देशों के द्वारा स्पष्ट तौर पर पर्वतनीय बनाया गया है। मौलिक अधिकारों वाला अध्याय पवित्रतम अध्याय है .... निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों के अनुरूप और उनके सहायक के रूप में रहेंगे। हमारे विचार से भाग तीन और चार के उपबन्धों को इसी दृष्टिकोण से समझना चाहिए। लेकिन यदि किसी मौलिक अधिकार का अतिक्रमण नहीं हुआ है तो राज्य उस सीमा तक नीति निर्देशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित कर सकता है।

मौलिक संविधान में अनुच्छेद 31 (4) और 31 (6) के द्वारा विभिन्न राज्यों में बनाए गए जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों को न्यायालय की परिधि से इस आधार पर बाहर रखने की कोशिश की गई थी कि इन अधिनियमों को अनुच्छेद 31 (2) के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि प्रतिकार अथवा मुआवजा कम दिया गया है, लेकिन संविधान–निर्माताओं ने यह नहीं सोचा था कि इन अधिनियमों को किसी अन्य आधार पर भी अवैध घोषित किया जा सकता है। वास्तव में यह हुआ कि जमींदारों न जमींदारी उन्मूलन विधेयक को अनुच्छेद 14 के द्वारा प्रदत्त विधि के समक्ष समानता के विरूद्ध बताया। कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य के मुकदमें में पटना उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय 'प्रतिकर' के प्रश्न की जांच इसलिए कर सकते हैं ताकि वे यह देख सकें कि उस कानून से अन्य मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित (उदाहरण के लिए, धारा 14) का उल्लंघन तो नहीं होता है। इस प्रकार 14वें अनुच्छेद

के आधार पर पटना के उच्च न्यायालय ने बिहार भूमि सुधार कानून, 1950 को अवैध घोषित कर दिया। कुछ अन्य राज्यों के जमींदारों ने उच्चतम न्यायालय में भी अपील की। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने भी पटना उच्च न्यायालय का निर्णय का समर्थन किया।

भूमि सुधार कानूनों का उद्देश्य निर्देशक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन था किन्तु वे न्यायिक वाद विवाद के विषय बन गए, जिसके कारण संविधान का प्रथम संशोधन करने का निश्चय किया गया।

प्रथम संविधान संशोधन : संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा मुख्यतौर से तीन संशोधन किए गए : (i) संविधान में एक नौवीं अनुसूची जोड़ी गई। मूल संविधान में केवल आठ अनुसूचियाँ थी। नवीं अनुसूची में वे सभी भूमि सुधार अधिनियम शामिल कर दिए गए जो उस समय तक अलग–अलग राज्यों द्वारा पारित किए गए थे। इस प्रकार प्रथम संविधान संशोधन ने नौवीं अनुसूची जोड़कर संविधान में ऐसा भाग बना दिया जिसमें किसी कानून को रख देने से उसे न्यायिक पुनरावलोकन के बाहर निकाला जा सकता है। (ii) एक नया अनुच्छेद 31–ए जोड़ा गया, जिसका अभिप्रायः यह है कि राज्य द्वारा भूसम्पति अधिग्रहण अथवा जागीरदारी अधिकारों की समाप्ति या अत्यीकरण को इसलिए अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि उसके द्वारा मौलिक अधिकारों को अतिक्रमण होता है। एक और नया अनुच्छेद 31 बी जोड़ा गया जिसमें यह उल्लेख किया गया कि नौवीं अनुसूची में उल्लिखित भूमि सुधार अधिनियमों की संवैधानिकता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे मौलिक अधिकारों का हनन करते हैं अथवा उनको सीमित करते है।

चतुर्थ संविधान संशोधन : सम्पति के मौलिक अधिकार में फिर से 1955 में संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि न्यायालयों ने विधानपालिका के अधिकार में हस्तक्षेप करने की कोशिश की। श्रीमती बेंला बनर्जी बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य के मुकदमें में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया कि 'मुआवजा' तभी न्यायोचित माना जा सकता है जबकि अधिग्रहण की गई सम्पति के मूल्य के

बराबर हो। सम्पति का, यथार्थ मूल्य चुकाया जाना चाहिए तथा मुआवजा पर्याप्त होना चाहिए।

इसी संदर्भ में 'द्वारिकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर स्पिनिंग एण्ड बीविंग कम्पनी' नामक मुकदमें का उल्लेख किया जा सकता है। इस मिल के प्रबन्ध मण्डल ने बिना किसी पूर्व सूचना के मिल को एकाएक बन्द कर दिया। सरकार ने इस मिल का प्रबन्ध एक अध्यादेश द्वारा अपने हाथों में ले लिया। न्यायालय ने इस अध्यादेश को इसलिए अवैध घोषित कर दिया क्योंकि उसमें कम्पनी को पर्याप्त मुआवजा नहीं दिया गया था। सरकार का कहना था कि उसने सम्पति को अपने हाथों में नहीं लिया है, केवल उसका प्रबन्ध करने का दायित्व ग्रहण किया है। न्यायालय द्वारा दिए गए उपर्युक्त निर्णयों ने सरकार को सम्पति के अधिकार में संशोधन के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप 1955 में संविधान के चतुर्थ और सम्पति के मौलिक अधिकार में दूसरा संशोधन करना पड़ा। चौथे संशोधन द्वारा यह व्यवस्था कि गई : (i) अनुच्छेद 31 (2) में परिवर्तन करके प्रतिकार की राशि की पर्याप्तता या अपर्याप्तता के प्रश्न को न्यायालयों के क्षेत्र से बाहर रख दिया गया। इसके अनुसार किसी भूमि अथवा सम्पति का अधिग्रहण करने से सम्बन्धित कानून बनाते समय संसद को उसके बदले दिए जाने वाले प्रतिकार सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा उसकी राशि निश्चित करने का पूर्ण अधिकार होगा और न्यायालयों में अब उसे इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि उसके अन्तर्गत दिया जाने वाला मुआवजा पर्याप्त नहीं है। (2) नया अनुच्छेद 31 (2 ए) भी जोड़ा गया जिसके द्वारा सम्पति के अनिवार्य अर्जन अथवा अधिग्रहण की सुनिश्चित व्याख्या कर दी गई। (3) अनुच्छेद 31 ए में परिवर्तन करके अनुच्छेद 31–ए (i) के अनुसार यह भी स्पष्ट किय गया कि कुछ विशेष प्रकार के कानूनों को अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 का उल्लंघन करने वाला नहीं माना जाएगा। (4) नवीं अनुसूची में कुछ और अधिनियम जोड़ दिए गए।

सत्रहवां संविधान संशोधन : चौथे संशोधन के बाद भी कुछ इस प्रकार के निर्णय न्यायालयों द्वारा दिए गए जिनके कारण सन् 1965 में 17वें संशोधन की जरूरत पड़ी। 1961 में उच्चतम न्यायालय ने रैयतवाड़ी भूमि को मद्रास राज्य से केरल राज्य में

हस्तान्तरण के सम्बन्ध में लागू किए गए 'केरल कृषि भू–सम्बन्धी अधिनियम 1961' को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि 'रेयतवाड़ी भूमि' शब्द अनुच्छेद 31–ए (2) के अन्तर्गत विविधित सम्पदा अथवा जागीर (Estate) शब्द की परिणाम में नहीं आता है। अतः उतम कानून को अनुच्छेद 31 ए (i) के अधीन अनुच्छेद 13, 19 और 31 पर अतिक्रमण करने से मुक्त नहीं माना जा सकता।

17वें संशोधन द्वारा निम्नलिखित व्यवस्था की गई –

(i) अनुच्छेद 31–ए (1) (B) में 'सम्पदा' अथवा 'जागीर' की विवेचना को अधिक विस्तृत करके रैयतबाड़ी प्रथा के अधीन जमीन भी इसी शब्द के अन्तर्गत आ गई। (ii) नवीं अनुसूची में कुछ भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियमों को और शामिल किया गया।

1967 से 1971 के समय के दौरान इस विचारधारा का प्रचलन हुआ कि मौलिक अधिकार अपरिवर्तनीय (Unamendable) हैं। सन् 1967 में गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय में उच्चतम न्यायालय में अपने बहुमत के निर्णय में यह कहा कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। इस निर्णय से उच्चतम न्यायालय द्वार 1951 में 'शंकरी प्रसाद केस' तथा 1965 में 'सज्जन सिंह केस' में अपने ही द्वारा दिए गए निर्णयों को उलट दिया। 10 फरवरी, 1970 को उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में बैकों के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश तथा कानून को निम्न आधारों पर अवैध घोषित कर दिया :

उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि 'मुआवजा' अथवा 'प्रतिकार' की राशि इतनी कम नहीं होनी चाहिए कि वह न्यायोचित प्रतित न हो। 'प्रतिकार' वास्तव में 'प्रतिकर' होना चाहिए, उसके नाम पर दिया गया धोखा या भुलावा मात्र नहीं।' उच्चतम न्यायालय ने अध्यादेश तथा कानून को इसलिए अवैध घोषित किया था कि उसमें मुआवजा अथवा प्रतिकर निर्धारित करने वाले सिद्धान्त अप्रासंगिक एवं असंगत थे और मुआवजे की राशि इतनी कम थी कि उसे मुआवजा या प्रतिकार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम अनुच्छेद 19 (1) (एफ) पर भी अतिक्रमण करता है अर्थात् सम्पति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता

है। इसी प्रकार वज्रेवेलू और मेटल कॉरपोरेशन (1969) मामलों में 'प्रतिकर' का अर्थ बाजार भाव से लगाया।

संक्षेप में इस समय के दौरान न्यायालयों ने राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों के बीच के सम्भावित विरोधाभास या असंगति की स्थितियों में समन्वय के सिद्धान्त का प्रयोग करने की अपेक्षा व्यापक रूप से मौलिक अधिकारों को अभिभावी घोषित करने की भूल की।

1972 से 1975 के समय के दौरान यह धारणा प्रचलित हुई कि मौलिक अधिकारों में परिवर्तन संशोधन सम्भव हैं और कतिपय मौलिक अधिकार तो निर्देशक सिद्धान्तों के अधीनिस्थ है।

गोलकनाथ केस के बाद नीति निर्देशक सिद्धान्तों की स्थिति निम्न तथा अधिनस्थ बन गई थी। अब सरकार तथा संसद के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी मोड़ आया। सन् 1971 के लोकसभा चुनावों में श्रीमती इन्दिरा गांधी और उसके दल को अभूतपूर्व विजय मिली। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्पष्ट कहा कि ''हम निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्वित हेतु कृतसंकल्प है और इस हेतु मौलिक अधिकारों को भी संशोधित करना पड़ा तो हम करेंगे।'' शासक वर्ग द्वारा अपनाए गए इसी दृष्टिकोण के अनुरूप संविधान में 24वें 25वें संशोधन किए गए। मौलिक अधिकारों और निर्देशक सिद्धान्तों के आपसी सम्बन्धों की दृष्टि से ये दोनों संविधान संशोधन अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।

24वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा यह व्यवस्था की गई कि संसद को संविधान के किसी भी धारा (जिनमें मौलिक अधिकार शामिल हैं) में संशोधन करने का अधिकार है। 25वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा धारा 31 में प्रतिकर या क्षतिपूर्ति शब्द को हटाकर 'धनराशि' (Amount) शब्द रखा गया। इस संशोधन द्वारा धारा 31 में एक नया खण्ड 31 सी जोड़ा गया जिसमें कहा गया कि निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत धारा 39 की भौतिक सम्पति के स्वामित्व और नियन्त्रण तथा धन के उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण से सम्बन्ध धाराओं को प्रभावी बनाने के लिए पारित किया गया कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जा सकेगा कि वह धारा 14, 19 या 31 में दिए गए मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है।

सन् 1973 में केशवानन्द भारती केस में इस संविधान संशोधन को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई। न्यायालय ने अपने 1973 के निर्णय में इस बात को तो स्वीकार किया कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्वित करने के लिए मौलिक अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है। लेकिन 25वें संवैधानिक संशोधन के इस प्रावधान को अवैध घोषित कर दिया कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्वित करने के लिए निर्मित कानूनों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। इस निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने बुनियादी ढांचे की अवधारणा (Basic Structure Concept) का प्रतिपादन किया और कहा कि संसद संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती।

1976 से 1980 के समय के दौरान यद्यपि केशवानन्द भारती केस में उच्चतम न्यायालय ने इस बात को मान लिया कि मौलिक अधिकारों में संशोधन परिवर्तन सम्भव हैं तथापि संसद और सरकार इस निर्णय से सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि इस निर्णय ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि संविधान एक बुनियादी ढांचे का निर्माण करता है जिसे संसद अपनी संविधान संशोधन शक्ति से बदल नहीं सकती। इसी कारण से आपातकाल के दिनों (1972) में 42वां संविधान संशोधन पारित किया गया। इस संविधान संशोधन के खण्ड 4 में कहा गया है कि ''निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए संसद जिन किन्हीं कानूनों का निर्माण करें उन्हें इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि ये कानून संविधान में दिए गए किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते है।''

इस प्रकार संविधान संशोधन को न्यायिक पुर्ननिरीक्षण से बचा लिया। इस तरह यह संशोधन संविधान की बुनियादी धारणा में आमूलचूल परिवर्तन कर देता है और मौलिक अधिकारों की स्थिति गौण बन जाती है।

1980 तथा उसके बाद के समय में मिनर्वा मिल केस (1979) में 42वें संविधान संशोधन के कतिपय अंशों को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई। उच्चतम न्यायालय ने 42वें संशोधन के दो प्रावधानों खण्ड 4 व खण्ड 55 को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इनसे संविधान के बुनियादी ढांचें को आघात पहुंचता है और ये केशवानन्द भारती विवाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय का उल्लंघन करते हैं।

इस निर्णय (मिनर्वा मिल केस – 1980) के बाद वर्तमान समय में स्थिति यह है कि संविधान के अनुच्छेद 39 के भाग 'ब' और 'स' (आर्थिक एवं सामाजिक न्याय से सम्बद्ध निर्देशक सिद्धान्त) की क्रियान्वित के लिए तो मौलिक अधिकारों को सीमित किया जा सकेगा लेकिन अन्य निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्वित के लिए ऐसे किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकेगा। जो मौलिक अधिकारों को सीमित या संशोधित करता हो। इस प्रकार वैधानिक अर्थो में पुनः मौलिक अधिकारों को निर्देशक सिद्धान्तों पर वरियता की स्थिति प्राप्त हो गई।

मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में अन्तर (Distenction between the Fundamental Rights and Directive Princples) : भारतीय संविधान के तीसरे अध्याय में धारा 12 से 35 तक छः प्रकार के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई है, जिनका प्रयोग करके नागरिक अपने जवन का पूर्ण विकास कर सकते है जबकि संविधान को चौथे भाग में धारा 35 से 51 में, निर्देशक सिद्धान्तों की घोषणा की गई है, जिनका उद्देश्य भारतीय नागरिकों का आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास करना तथा भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। दोनों के ही उद्देश्य समान प्रतीत होते है। लेकिन दोनों में अन्तर हैं जो कि निम्नलिखित है –

1. मौलिक अधिकार नकारात्मक है जबकि निर्देशक सिद्धान्त सकारात्मक है : निर्देशक सिद्धान्त राज्य को दिए गये निश्चित आदेश है जो कि हमें ये बतलाते हैं कि राज्य ने क्या करना हैं जैसे निर्देशक सिद्धान्तों के द्वारा राज्यों को यह निर्देश दिया गया है कि राज्य में पंचायत प्रणाली का गठन किया जाए, बेकारी को दूर करने की योजनाएँ बनाई जाए, गो हत्या को रोका जाए आदि। इसके विपरीत मौलिक अधिकारों द्वारा राज्य का अधिकतर नकारात्मक आदेश दिए गये हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य शांति पर प्रतिबन्ध लगाए गए है। उदाहरण के तौर पर, राज्य धर्म, जाति, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। ग्लैडहिल के शब्दों में, ''मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ है। इनके द्वारा राज्य को कुछ निश्चित कार्य न करने को कहा गया है, निर्देशक

सिद्धान्त सरकार को दिए गए सकारात्मक निर्देश हैं जो कि बतलाते हैं कि सरकार ने क्या करना है।''

2. मौलिक अधिकार न्याय–संगत है, निर्देशक सिद्धान्त नहीं : संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि मौलिक अधिकार न्याय–संगत हैं। इन्हें न्यायपालिका द्वारा सुरक्षित करवाया जा सकता है। संवैधानिक उपचारों का अधिकार नागरिकों का मौलिक अधिकार है। इसके विपरीत निर्देशक सिद्धान्त न्यायसंगत नहीं। संविधान की धारा 37 में यह स्पष्ट कहा गया है कि निर्देशक सिद्धान्त न्यायपालिका द्वारा लागू नहीं करवाये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, निर्देशक सिद्धान्त केवल मात्र निर्देश है, कानूनी आदेश नहीं।

3. मौलिक अधिकारों का उद्देश्य राजनैतिक स्वतन्त्रता है तो निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य आर्थिक स्वतन्त्रता : जहाँ कि मौलिक अधिकारों द्वारा राजनैतिक लोकतन्त्र की व्यवस्था की गई है। वहीं निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना की गई है। सफल लोकतन्त्रिय व्यवस्था के लिए यह एक महत्वपूर्ण आवश्यकता होती है कि राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र पर आधारित हो। भारत में इस तत्व को अपनाने के लिए संविधान के दो भागों में क्रमशः राजनैतिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की व्यवस्था की गई है।

4. मौलिक अधिकार प्राप्त किए जा चुके हैं परन्तु निर्देशक सिद्धान्तों को प्राप्त करना अभी बाकी है : मौलिक अधिकार लोगों को प्राप्त हो चुके हैं जबकि निर्देशक सिद्धान्त अभी तक लोगों को प्राप्त नहीं हुए। सरकार इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देने का प्रयोग कर रही है।

5. मौलिक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, निर्देशक सिद्धान्तों का राज्य से है : मौलिक अधिकारों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना तथा उसके जीवन को सुखी व सम्यक बनाना है। वे ऐसी परिस्थितियों की स्थापना करते है। जिसमें व्यक्ति अपने में निहित गुणों का उचित रूप से विकास कर सके। इसके विपरीत, निर्देशक सिद्धन्त समाज के विकास पर बल देते है। निर्देशक

सिद्धान्तों के अध्याय में धारा 38 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करेगा जिसमें सभी को सामाजिक व आर्थिक न्याय मिल सके।

6. मौलिक अधिकारों को (धारा 20 तथा 21 में वर्णित अधिकारों को छोड़कर) : अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत घोषित आपातकालीन स्थिति के प्रवर्तन काल में स्थगित किया जा सकता है। जबकि निर्देशक सिद्धान्तों को जब तक क्रियान्वयन नहीं होता अवस्था में ही बने रहते है।

7. मौलिक अधिकार सार्वभौम (Absolute) नहीं है, उन पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। जबकि निर्देशक सिद्धान्तों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

नीति निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचना

(Criticism of Directive Principles)

जिस समय संविधान का निर्माण हो रहा था उस समय संविधान सभा में और बाहर भी राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों सम्बन्धी उपबन्धों की बहुत आलोचना हुई थी। संविधान के स्वीकृत होने के बाद भी अनेक विद्वानों ने कई आधारों पर इन उपबन्धों की आलोचना की निर्देशक सिद्धान्तों के विरूद्ध की जाने वाली आलोचना के मुख्य आधार निम्नलिखित है –

1. वैधानिक शक्ति का अभाव (Lack of Legal Sanctions) : संविधान द्वारा राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों को एक ओर तो देश के शासन में मूलभूत माना है, किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त अथवा न्याय योग्य नहीं हैं। न्यायालय उपर्युक्त सिद्धान्त को क्रियान्वित नहीं करा सकते। अतः आलोचकों की राय में ये निर्देशक सिद्धान्त शुभ इच्छाएँ (Pious Wishes) या नैतिक उपदेश (Moral Principles) के समान है जिनका कोई संवैधानिक महत्व नहीं है।

2. अस्पष्ट तथा अनिवार्य रूप से संग्रहीत (Vague and Illogically Arranged) : नीति निर्देशक सिद्धान्तों के विरूद्ध यह भी आलोचना की जाती हैं कि वे किसी निश्चित या संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नहीं है। वे अस्पष्ट हैं, उनमें

क्रमबद्धता का अभाव है और इनमें एक ही बात को बार–बार दोहराया गया है। उदाहरण के लिए, इन सिद्धान्तों में पुराने स्मारकों की रक्षा जैसे महत्वहीन प्रश्न अपेक्षाकृत अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों को साथ मिला दिए गए है।

3. अव्यावहारिक (Impracticable) : भाग IV में वर्णित कुछ निर्देशक सिद्धान्त अव्यावहारिक हैं। उदाहरण के लिए, राज्य को नशाबन्दी के निर्देश दिये गये हैं। सरकार कानून द्वारा नशाबंदी लागू करने में असमर्थ है। इसका प्रमाण पिछले वर्षों का इतिहास है। भारत के जिन राज्यों में भी पहले नशाबंदी लागू थी उनको अपनी नीति बदलनी पड़ी है। तमिलनाडू ने अब शराब के प्रयोग को फिर कानूनी रूप दे दिया है। हरियाणा में 1996 में स्थापित बंसीलाल जी की सरकार ने राज्य में पूर्ण शराब बंदी लागू की थी, परन्तु इसके असफल होने पर अप्रैल 1998 से इसे समाप्त कर दिया गया।

4. एक प्रभुसत्ता राज्य में अस्वाभाविक (Unnatural in a Sovereign State) : एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों की व्यवस्था करना अस्वाभाविक भी लगता है। एक उच्च सत्ता अधीन सत्ता को आदेश दे सकती है जैसा कि 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में ब्रिटिश संसद द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को दिए गए थे। परन्तु यह बड़ा अस्वाभाविक लगता है कि एक प्रभुसता सम्पन्न राष्ट्र अपने आपको कुछ आदेश दे। विधिवेत्ताओं की दृष्टि में एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के लिए इस प्रकार के आदेशों का कोई औचित्य नहीं है।

5. निर्देशक सिद्धान्त कोरे आश्वासन ही हैं (Directive Principles are mere Promises) : संविधान में यह नहीं दिया गया कि राज्य कब तक इन सिद्धान्तों में वर्णन किए गए आदेशों को व्यवहार में लाएगा और अगर सरकार इन सिद्धान्तों को व्यवहार में नहीं लागू करेगी तो जनता न्यायिक संरक्षण के अभाव में, क्या करेगी ? यह कहना कि निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे जनता की मान्यता है, केवल सैद्धान्तिक रूप में ही ठीक है। सरकार प्रत्येक समय जनता को यह

कहकर टाल सकती है कि वह प्रयत्न कर रही है। अतः ऐसी स्थिति में निर्देशक सिद्धान्त केवल कोरे आश्वासन ही रह जाते है।

6. संवैधानिक द्वन्द्व (Constitutional Conflict) : आलोचकों का कहना हैं कि राष्ट्रपति जो अपने पद को ग्रहण करते हुए संविधान के संरक्षण की शपथ लेते हैं, किसी बिल को इस आधार पर स्वीकृति देने से इन्कार कर दे कि वह बिल निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है, तो क्या होगा ? इस सम्बन्ध में के० सन्थानम (K. Santhanam) ने संविधान सभा में कहा था कि इन निर्देशक सिद्धान्तों के कारण राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री अथवा राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के बीच मतभेद उत्पन्न हो सकता है। यदि प्रधानमंत्री इन सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है तो क्या परिणाम होगा ?

7. मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व की संभावना (Possibility of Conflict between Fundamental Rights and Directive Principles) : मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व की संभावना बनी रहती है। इसका मूल कारण यह है कि एक और निर्देशक सिद्धान्तों को देश के शासन में आधारभूत माना गया है तथा दूसरी और उन्हें न्यायालयों के संरक्षण से परे रखा गया है। नौकरशाही को निर्देशक सिद्धान्तों को भी लागू करना पड़ता है और मौलिक अधिकारों की भी रक्षा उन्हें करनी होती है।

संक्षेप में, उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि निर्देशक सिद्धान्तों का संविधान में समावेश करना कई कारणों से अनुचित है।

राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व (Importance of Directive Principles of State Policy)

राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों की जो आलोचना की गई है उसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि वे बिल्कुल व्यर्थ और महत्वहीन है। वास्तव में संवैधानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का बहुत अधिक महत्व है। डॉ० पायली के अनुसार, ''इन निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व इस बात में है कि ये

नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व है।'' इन सिद्धान्तों के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है –

1. सकार के लिए निर्देश (Directives for Government) : ये सिद्धान्त सरकार के लिए मार्ग–दर्शन का काम करते हैं। संविधान की धारा 37 में इन सिद्धान्तों को शासन के सर्वोच्च आदेश घोषित किया गया है। सरकार का यह परम कर्त्तव्य है कि नीति–निर्माण करते समय इन सिद्धान्तों को पालन करे तथा यथा–सम्भव इनको लागू करे।
2. नैतिक आदर्शों के रूप में (As moral Ideas) : यह ठीक है कि राजनीति तथा नैतिकता दो अलग–अलग विषय हैं। परन्तु इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि राजनीति का आधार नैतिकता होनी चाहिए। हमारे संविधान के निर्देशक सिद्धान्त वे सिद्धान्त है जिनके आधार पर सरकार को चाहे वह किसी भी दल द्वारा निर्मित सरकार क्यों न हो, अपने कार्य करने होते है। इतिहास इस बात का गवाह हैं कि नैतिक आदर्शों ने बहुत बार राज्य की नीति को महत्वपूर्ण रूप से बदलता है।
3. संविधान की व्याख्या के लिए सहायक (Helpful for the Interpretation of Constitution) : भारतीय संविधान की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को है। न्यायपालिका ने संविधान की व्याख्या करते समय सदैव नीति निर्देशक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखा। न्यायपालिका ने सदैव इन सिद्धान्तों को संविधान –निर्माताओं की इच्छा तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छा का प्रतीक माना है। गोपालन बनाम मद्रास राज्य (Gopalan Vs the State of Madras) नामक केश में उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश श्री केनिया ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया। उनके शब्दों में, ''राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त संविधान के भाग है इस कारण वह समस्त राष्ट्र के विवेक के प्रतीक हैं, न कि बहुमत दल की इच्छा के प्रतीक, जिन्हें संविधान सभा द्वारा प्रकट किया गया, जिसको समस्त देश के लिए सर्वोच्च तथा स्थायी कानून बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था।''

4. राज्य के कार्यों को जाँचने की कसौटी (A Standard for measuring the work of state) : राज्य के कार्यों को जाँचने के लिए निर्देशक सिद्धान्त लोगों के हाथ में एक मापदण्ड है। लोग सरकार के कार्यों की परख इस आधार पर करते हैं कि कहाँ तक सरकार ने निर्देशक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाया है। अगर लोग यह समझे कि एक दल की सरकार ने इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के लिए ठोस तथा दृढ़ कदम नहीं उठाए तो उस दल की सरकार के स्थान पर चुनाव में किसी अन्य दल की स्थापना कर लेते है।

5. निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे जनमत की शक्ति (Power of Public Opinion behind the Principles) : इसमें सन्देह नहीं कि निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे कानून नहीं है परन्तु इनके पीछे कानून की शक्ति से बढ़कर एक अन्य शक्ति, जनमत की शक्ति है। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में जनमत की शक्ति से अधिक और कोई शक्ति नहीं होती। चूँकि ये सिद्धान्त एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायता करते है, इसलिए जनता सरकार से यह आशा करती हैं कि वह इन्हें लागू करे। यदि कोई सरकार जनता की इच्छाओं की अवहेलना करती है, तो वह जनता का विश्वास खो बैठेगी और उसका अधिक समय तक अपने पद पर बने रहना असम्भव हो जाएगा। प्रो० एम०वी० पायली के अनुसार, ''ये निर्देशक सिद्धान्त राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निर्माण करते है और जिनके द्वारा इन सिद्धान्तों का उल्लंघन किया जाता है, वे ऐसा कार्य उत्तदायित्व की स्थिति से अलग होने की जोखिम पर ही करते है।''

6. चरम सीमाओं से सुरक्षा (An Insurance Against Extremes) : हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे कि प्रजातान्त्रिक राज्य में परिवर्तनशील जनमत के परिणाम स्वरूप विभिन्न समयों में विभिन्न राजनीतिकदल सत्तारूढ़ हो सकते हैं। कभी दक्षिणपंथी दल शासन सत्ता पर अधिकार कर सकता हैं और कभी कोई वामपंथी दल। निर्देशक सिद्धान्त दोनों प्रकार की सरकारों की मार्यादित रखेंगे तथा उन्हें किसी प्रकार का एक तरफ झुकाव रखने से रोकेगे।

7. कार्यपालिका प्रधान इनका दुरूपयोग नहीं कर सकते हैं (Executive Head can not exploit Provision) : कुछ संविधान नेताओं ने यह भय प्रकट किया कि राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधार पर किसी विधेयक पर अपनी सहमति देने से इन्कार कर सकते है कि वह निर्देशक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। लेकिन व्यवहार में ऐसी घटना की सम्भावना कम है क्योंकि संसदात्मक शासन प्रणाली में नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान लोकप्रिय मन्त्रिपरिषद द्वारा पारित विधि को अस्वीकार करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। डॉ० अम्बेडकर के शब्दों में, ''विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल निर्देशक तत्वों का प्रयोग नहीं कर सकते।''

वास्तव में निर्देशक सिद्धान्त भारतीय शासन के सर्वोच्च सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों को व्यवहार में अपनाने पर ही भारत में सफल लोकतन्त्र की स्थापना की जा सकती है। संक्षेप में हम कह सकते है कि अगर इन निर्देशक सिद्धान्तों को अच्छी प्रकार व्यवहारिक रूप दिया जाए तो हमारा देश पृथ्वी पर स्वर्ग बन जाएगा।

निर्देशक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन और उपलब्धियाँ (Implementation and Achievement with Regard to Directive Principles) : राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और संविधान द्वारा स्थापित राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक लोकतन्त्र में परिवर्तन करने की समस्या है। इस कठिन कार्य को पूरा करना आसान नहीं है। इसे पूरा करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न प्रचुर धनराशी तथा तीव्र गति से आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास आवश्यक है।

लेकिन राज्य ने यह कार्य शुरू कर दिया है और इस दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए है। पहला, पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर कृषि और उद्योगों की उन्नति, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का प्रसार, नौकरी व कार्य के साधनों में वृद्धि, राष्ट्रीय आय व लोगों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न किए गए हैं। दूसरा, युवक वर्ग व बालकों की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पास किए है। बीमारी और दुर्घटना के विरूद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा तक मजदूर वर्ग में

बीमा योजना लागू की गई है व बेरोजगारी बीमा योजनाओं को लागू करने और रोजगार की सुविधाएँ बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे है। राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा में तेजी से आगे बढ़ रही है। तीसरा हिन्दू कोड बिल के कई अंशों जैसे हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 आदि को पारित करके देश के सभी वर्गो के लिए समान विधि संहिता प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे है। चौथा, अस्पृश्यता निवारण के लिए और अनुसूचित तथा पिछड़ी हुई जातियों के बालकों को उदारतापूर्वक छात्रवृति और अन्य सुविधाएँ द्वारा शिक्षित करने का कार्य भी हुआ है। पांचवा, यद्यपि अब भी निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा और सबके लिए पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा का प्रबन्ध जैसे विषयों में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। अन्तिम स्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा ग्राम पंचायतों को अधिक सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है। गरीबों को 'मुफ्त कानूनी सहायता' प्रदान करने के लिए न्यायमूर्ति पी०एन० भगवती की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। कई राज्यों में वृद्ध और असहाय लोगों के लिए पेंशन की व्यवस्था की है। सामाजिक सुरक्षा पेंशन के लिए सातवें वित आयोग ने राज्यों को 264.08 करोड़ रूपए दिए जाने का प्रावधान किया। बाल श्रमिकों के हितों के संरक्षण हेतु केन्द्रीकरण बाल श्रमिक बोर्ड का गठन किया गया है तथा राज्यों से कहा गया कि वे जिला स्तर पर ऐसे ही बोर्ड का गठन करे।

1969 के शब्द की राजनीति में तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा निरन्तर संकल्प व्यक्त किया गया कि निर्देशक सिद्धान्तों को तेजी के साथ लागू किया जाएगा। 1970 से 1976 के वर्षो में इस दृष्टि से कुछ कार्य भी किए गए, जैसे 14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति के मौलिक अधिकार को सीमित करने हेतु संविधान में 24वां, 25वां, 29वां और 44वां संशोधन और तस्कर व्यापार विरोधी कार्यवाहियाँ आदि। 1972 में बन्धक मजदूरी की समाप्ति और स्त्री पुरुष को समान वेतन दिलानेका अध्यादेश भी जारी किया गया। 1976 में ही संसद के द्वारा शहरी भूमि सीमाकरण कानून पारित किया गया। जिसके अनुसार चार श्रेणी के शहरों में शहरी भूमि की सीमा 500 वर्गमीटर से 2000 वर्गमीटर निश्चित की गई। 1971 के लोकसभा

चुनावों से ही गरीबी, बेरोजगारी और असमानता दूर करने का नारा भी जोर शोर से लगाया गया, लेकिन इस सम्बन्ध में जैसे ठोस कार्य अपेक्षित था, वैसा नहीं किया गया।

1977 से भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हुआ हैं। 1977 में सत्तारूढ़ जनता दल द्वारा अपने चुनाव घोषणा–पत्र में 'सम्पति के मूल अधिकार' को समाप्त करने और समस्त जनता को 'रोजी–रोटी का अधिकार' प्रदान करने की बात कही गई थी। 'सम्पति के मूल अधिकार' को सामाजिक–आर्थिक समानता के मार्ग में बाधक मानकर 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा 'सम्पति के मूल अधिकार' को समाप्त कर दिया गया।

निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने पर जब हम विचार करे, तब हमारे द्वारा इस तथ्य को दृष्टि में रखा जाना चाहिए कि सर्वाधिक प्रमुख निर्देश सिद्धान्तों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 39 में किया गया है और ये निर्देशक सिद्धान्त 'आर्थिक तथा सामाजिक न्याय' से सम्बन्धित है। संविधान सभा वाद विवाद के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि 'निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य आर्थिक तथा सामाजिक असमानता एवं अन्याय को दूर कर आर्थिक–सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। जब हम इस दृष्टि से आज की स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्वित के सम्बन्ध में स्थिति संतोषजनक नहीं है। सामाजिक समानता स्थापित करने की दिशा में थोड़ा कार्य भले ही हुआ हो, लेकिन आर्थिक समानता स्थापित करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है। आर्थिक असमानता का जो अनुपात संविधान लागू किए जाने के समय था, आज उसमें थोड़ी भी कमी होने के बजाय वृद्धि हुई है। एक तरफ गरीबी और दूसरी तरफ अन्तहीन विलासिता, लगातार बढ़ती हुई बेरोजगारी और अशिक्षा की जो स्थिति देखी जाती है वह इस प्रश्न को जन्म देती हैं कि क्या शासक वर्ग की निर्देशक सिद्धान्तों में कोई आस्था है।

देश में आर्थिक विषमता बढ़ रही है क्योंकि मात्र 10 प्रतिशत लोग राष्ट्रीय उत्पादन का अधिकांश हिस्सा हजम कर जाते है। इसी कारण से देश में कुछ परिवारों का राष्ट्रीय उत्पादन पर एकाधिकार बढ़ता गया है। आज भी देश की जनसंख्या का

काफी बड़ा भाग गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहा है। देश में आवास कमानों की कमी है। लाखों बच्चे जोखिम भरे स्थानों पर श्रम करते है। साक्षरता का प्रतिशत भी कम है।

दिसम्बर 1997 में जारी यूनीसेफ की रिपोर्ट दुनिया भर में बच्चों की स्थिति बताती है कि दुनिया में कुपोषण के शिकार बच्चों में आधे भारतीय हैं, यह भी कि जहाँ दुनिया भर में पाँच वर्ष से कम आयु के कुपोषित बच्चों का प्रतिशत 37 है, वहीं भारत में यह 52 है। इसी तरह, दुनिया भर में इस आयु वर्ग के बच्चों की मृत्यु दर 88 है, भारत में 111 है, भारत में 13 करोड़ लोग सुरक्षित पेयजल और 72 करोड़ लोग स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित है।

जून 1999 में जारी विश्व बैंक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 1980 के दशक के अन्तिम वर्षो में गरीबों की संख्या 30 करोड़ थी जो 1997 में बढ़कर 34 करोड़ हो गई। यूएनओ की रिपोर्ट 2005–06 के अनुसार 64 करोड़ औश्र 2015–16 में लगभग 40 करेाड़ गरीब लोग है। 172 राष्ट्रों के लिए मानव विकास सूचकांक का आंकलन संयुक्त राष्ट्र कार्यक्रम की वर्ष 1999 की 'मानव विकास रिपोर्ट में किया गया है। इनमें सबसे प्रमुख मानव विकास सूचकांक है जो जीवन प्रत्याशा, शैक्षणिक उपलब्धि तथा वास्तविक प्रति व्यक्ति आय पर आधारित है। इसमें भारत का 132वां स्थान था। आईएमएफ की रिर्पोट 2017 में भारत का 126वां स्थान है।

इन आंकड़ों से यह प्रकट होता है कि पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से निर्देश सिद्धान्तों के क्रियान्वयन हेतु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

2.5.4 निष्कर्ष

राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना तथा उनके महत्व को देखने से स्पष्ट होता है कि संविधान को निरर्थक तथा महत्वहीन कहना संकीर्णता का परिचय देना है। इन सिद्धांतों ने काफी हद तक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में मदद की है। इनके महत्व को देखते हुए एम०सी० शीतलवाड ने कहा था, ''ये सिद्धांत प्रज्वलित ज्योति के रूप में राज्य के सभी अधिकारों के राष्ट्रनिर्माण के प्रयासों का मार्गदर्शन

करेंगे जिससे राष्ट्र धीरे–धीरे समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली बन सके और विश्व के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सके।

2.5.5 मुख्य शब्दावली

- कमजोर वर्ग : जो सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़ा वर्ग है।
- समाजवादी व्यवस्था : एक ऐसी व्यवस्था जिसमें प्रत्येक नागरिक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय की प्राप्ति हो सके।
- पर्यावरण संरक्षण : देश की जन सम्पदा एवं वन्य जीवन की सुरक्षा करना।
- अवैधता : जो कानून के अनुसार ना हो।

2.5.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय संविधान में वर्णित नीति–निर्देशक सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
2. राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. मौलिक अधिकारों और निर्देशक सिद्धान्तों में अन्तर बताए। महत्वपूर्ण निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन करे। क्या निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों से श्रेष्ठता दी जा सकती है।
4. राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों के स्वरूप और उपयोगिता का वर्णन करे तथा इन्हें लागू करने के लिए उठाए गए कदमों का उल्लेख करे।
5. भारतीय संविधान में वर्णित राज्य नीति निर्देशक सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन करे। किस सीमा तक इन्हें लागू किया गया है, इसकी भी समीक्षा करे।
6. राज्य नीति निर्देशक सिद्धांतों का महत्व व उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
7. राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों के दोषों का वर्णन करे।
8. राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत क्या है ?
9. क्या राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों पर प्रमुखता दी जा सकती है।
10. राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत संविधान के किस भाग में वर्णित है तथा उनके प्रकारों का वर्णन करें।

2.5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999

- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

ईकाई – 3

केन्द्रिय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया

3.0 ईकाई परिचय

आधुनिक लोकतान्त्रिक युग में सरकार के तीन अंग है। कार्यपालिका, विधानपालिका व न्यायपालिका। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। जिसमें नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है। भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है और राष्ट्रपति कार्यपालिका के संवैधानिक तथा नाममात्र के प्रधान है। जबकि वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल है। सभी शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति के नाम पर वास्तविक कार्यपालिका के द्वारा किया जाता है। इसलिए वास्तविक और नाममात्र दोनों ही कार्यपालिका के बारे में इस इकाई में अध्ययन किया जायेगा।

भारत में संसदीय ढ़ांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है, जो बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने पर आधारित है, किन्तु फिर भी हमारी शासन–व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है। भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने में एक अनुपम और नवीन प्रयोग है। हमारे संविधान–निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुता स्वीकार करने में अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती है। वे तो भारत के लिए व्यावहारिक शासन व्यवस्था चाहते थे जो कि भारतीय वातावरण में पोषित हो सके। इसी कारण भारतीय संसद के ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया, बल्कि संविधान को सर्वोच्च बनाया गया है।

3.1 उद्देश्य

- संसदीय शासन प्रणाली की कार्यप्रणाली और संरचना को जानना
- वास्तविक व नाममात्र की कार्यपालिका के भेद को समझना
- संसद के दोनों सदनों का तुलनात्मक अध्ययन करना

- संघीय मन्त्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली का मूल्यांकन
- आपातकालीन शक्तियों के प्रयोग का आलोचनात्मक मूल्यांकन
- राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री की स्थिति का मूल्यांकन करना

3.2 राष्ट्रपति (President)

3.2.1 परिचय

भारतीय संविधान द्वारा देश को संप्रभु, प्रजातन्त्रीय, गणराज्य घोषित किया गया है। गणराज्य में स्वभाविक रूप से कार्यपालिका के मुखिया को लोगों द्वारा चुना जाता है। भारत में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार अथवा संघीय सरकार की स्थापना की गई है। संघीय कार्यपालिका इस केन्द्रीय सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग है।

भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली प्रचलित है, इसलिए राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान है और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी है। औपचारिक प्रधान होने के कारण हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ नहीं दी हैं, तथापि उसके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त बनाया है। वे राज्य के शक्तिशाली शासक होने की अपेक्षा भारतीय राज्य की अपेक्षा भारतीय राज्य की एकता के प्रतीक है। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक यन्त्र को सन्तुलित कर सकता है। सही मायने में उनका पद गौरव, गरिमा और प्रतिष्ठा का है। शान–शक्ति और गौरव की दृष्टि से तो राष्ट्रपति राष्ट्र के प्रथम व्यक्ति हैं ही। हमारी संवैधानिक व्यवस्था में भी राष्ट्रपति का प्रतिष्ठित पद राज्य श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और वैधानिक आवश्यकता है। समुचित संवैधानिक प्रावधानों के उपरान्त भी भारतीय राष्ट्रपति का पद, उनके संवैधानिक और राजनीतिज्ञ दायित्व और राजनीतिक संस्था के रूप में उनकी भूमिका अभी भी वाद–विवाद का विषय बना हुआ है। संविधान के अनुच्छेद 52 के अन्तर्गत राष्ट्रपति पद की व्यवस्था की गई है। भारत में संसदीय शासन प्रणाली है तथा इस प्रणाली में कार्यपालिका के दो भाग है – (1) नाममात्र कार्यपालिका और (2) वास्तविक कार्यपालिका। भारत का राष्ट्रपति नाममात्र कार्यपालिका मुखिया है।

3.2.2 उद्देश्य

- ये जानना क्या भारत का राष्ट्रपति कार्यपालिका का वास्तविक मुखिया है
- राष्ट्रपति का चुनाव कैसे किया जाता है
- चुनाव विधि में क्या–क्या दोष है उन्हें दूर करने के उपाय
- राष्ट्रपति की शक्तियों और स्थिति का मूल्यांकन
- राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है या नहीं
- गठबन्धन सरकारों में बदलती भूमिका

3.2.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन (Elections of the President)

राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएँ

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।
3. उसमें वे सभी योग्यताएँ होनी चाहिए जो लोकसभा के सदस्य बनने के लिए आवश्यक है।
4. वह किसी लाभ पद पर न हो, लेकिन इस नियम के कुछ अपवाद कर दिए गए हैं।

- संघीय अथवा राज्य सरकार में मन्त्री होना।
- राज्य का गवर्नर होना।
- संघ का उप–राष्ट्रपति होना।
- संघ का राष्ट्रपति यदि पुनः निर्वाचन में खड़ा हो।
- संसद या विधानमण्डल का सदस्य चुनाव तो लड़ सकता है, लेकिन चुने जाने के बाद वह संसद या विधानमण्डल का सदस्य नहीं रह सकता। 1 फरवरी 1974 में संसद ने एक कानून पारित करके जिसके द्वारा राष्ट्रपति के लिए चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को 2500 रूपये जमानत के रूप में जमा करवाने आवश्यक थे। इसके अलावा इस कानून के अन्तर्गत राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने

वाले उम्मीदवार का नाम निर्वाचक मण्डल के 10 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित और 10 सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना जरूरी था। 5 जून 1997 में राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेश के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव के लिए जमानत की राशि 2500 से बढ़ाकर 15000 रूपये कर दी गई। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार का नाम कम से कम 50 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित तथा 50 सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक कर दिया गया।

कार्यकाल

राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है। वह पुनः भी चुना जा सकता है। संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति बार–बार निर्वाचित हो सकता है। इसके विपरीत अमेरिका के संविधान में राष्ट्रपति केवल दो बार ही इस पद पर रह सकता है। भारत के राष्ट्रपति का पद केवल तीन कारणों से रिक्त हो सकता है।

1. यदि वह स्वयं त्याग पत्र दे दे।
2. दुर्भाग्यवश उसका देहान्त हो जाए।
3. उसे महाभियोग के द्वारा पद से हटा दिया जाए ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति इस पद को ग्रहण कर लेता है। लेकिन छह माह में नये राष्ट्रपति का चुनाव होना आवश्यक है। अगर नए राष्ट्रपति का चुनाव किसी कारणवश न हो सके तो पहले वाला राष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा, जब तक उसका उत्तराधिकारी पद न संभाल ले। राष्ट्रपति को अपना त्याग पत्र लिखकर उपराष्ट्रपति को भेजना होता है। उपराष्ट्रपति को इसकी सूचना तुरन्त लोकसभा के स्पीकर को देनी पड़ती है।

वेतन एवं भत्ता

वर्तमान समय में भारत के राष्ट्रपति को पाँच लाख रूपए मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अलावा रहने के लिए निवास स्थान तथा कई भत्ते भी मिलते हैं। सेवानिवृत्त होने के बाद उसे तीन लाख रूपये वार्षिक पेंशन भी मिलती है तथा निःशुल्क आवास स्थान, कार, टेलिफोन, बिजली–पानी और सचिवालय की सुविधा भी प्रदान की जाती है। राष्ट्रपति का वेतन तथा सभी भत्ते संचित निधि से प्राप्त होते हैं,

जिन्हें उसके कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ० राधाकृष्णन केवल 2500 रूपये मासिक वेतन लेते थे। श्री नीलम संजीवा रेड्डी 3000 रूपये मासिक वेतन लेते थे।

विशेषाधिकार

संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार राष्ट्रपति को अपने अधिकारों तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसके कार्यकाल में उसके गिरफ्तार अथवा बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा उसके विरूद्ध फौजदारी कार्यवाही भी नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति के निजी कार्यो के लिए भी कोई दीवानी कार्यवाही या मुकदमा उसके विरूद्ध कम से कम दो महीने पहले नोटिस दिए बिना नहीं चलाया जा सकता।

राष्ट्रपति पर महाभियोग

इस विधि का वर्णन संविधान की धारा 61 में किया गया है। इस विधि के अन्तर्गत संसद के दोनों सदनों में से जो सदन आरोप लगाना चाहता हैं, उसको 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षरों सहित इस प्रस्ताव को राष्ट्रपति के पास 14 दिन पूर्व भेजना पड़ता हैं जब सदन में महाभियोग विषय पर चर्चा चल रही होती है, तो राष्ट्रपति ऐसे समय पर स्वयं उपस्थित होकर या किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा आरोपों का जवाब दे सकता है। यदि वह 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे तो दूसरा सदन उन आरोपों की जाँच करता है। यदि दूसरा सदन भी 2/3 बहुमत से उन आरोपों को सही मान ले, तो राष्ट्रपति को अपनापद रिक्त करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भालता है। यदि उपराष्ट्रपति भी त्यागपत्र दे देता है या उसकी मृत्यु हो जाए तो सर्वोच्च न्यायालय का सर्वोच्च न्यायाधीश कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है। जैसे सन् 1969 में राष्ट्रपति जाकिर हुसैन की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति वी०वी० गिरि ने त्यागपत्र देने के कारण सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला ने कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। लेकिन 6 महीने के अन्दर राष्ट्रपति का निर्वाचन अनिवार्य है। भारत में अभी तक किसी भी राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग प्रस्ताव नहीं लाया गया है। सन् 1970 में उत्तर प्रदेश में

राष्ट्रपति शासन के विवाद में राष्ट्रपति वी०वी० गिरि के विरूद्ध विपक्षी नेता मधु लिमये ने महाभियोग प्रस्ताव लाने का प्रयास किया था।

राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया

भारत के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संवैधानिक सभा के सामने कई प्रस्ताव रखे गए। पहला प्रस्ताव था कि चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किया जाए। इस पर विस्तार से विचार किया गया। यह देखने में तो लोकतान्त्रिक था, लेकिन कुछ समस्याएँ थी। जैसे इतने बड़े देश में जनता द्वारा चुनाव करवाना कठिन था। इसके लिए बहुत से कार्यकर्ता और धन की आवश्यकता पड़ती थी, जो भारत सरकार के लिए कठिन था। दूसरी बात, भारत में संसदीय–प्रणाली है। इसलिए इसका राज्याध्यक्ष नाममात्र का होता हैं। जनता द्वारा निर्वाचित होने वाले अध्यक्ष को नाममात्र का अध्यक्ष रखना कुछ अजीब सा लगता है।

अतः वाद–विवाद और विचार–विमर्श के बाद यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष ढ़ग से ही होगा। यह चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाएगा जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों को भाग लेने का अधिकार है।

संविधान के दो अनुच्छेदों 54 तथा 55 में राष्ट्रपति के चुनाव की व्यवस्था की गई है। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से एक चुनाव मण्डल जिसमें केन्द्रीय संसद तथा प्रान्तीय विधानपालिकाओं के चुने हुए सदस्य हैं, उनके द्वारा एकल संक्रमणीय मत–प्रणाली द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गुप्त मतदान द्वारा चुना जाता है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित होने वाले निर्वाचकमण्डल के सदस्यों के मतों का मूल्य समान नहीं होता। इन के मतों का मूल्य निम्नलिखित सूत्रों के द्वारा तय किया जाता है –

1. राज्य विधान सभा के सदस्य के मत का मूल्य

राज्य की जनसंख्या

$$= \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य की विधान सभा के सदस्यों की संख्या}} \div 1000$$

2. संसद के निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य

$$= \frac{\text{सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मतों का योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$$

निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय पद्धति के द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति पद हेतु निर्वाचन में विजय के लिए उम्मीदवार को मतों का निर्धारित न्यूनतम कोटा प्राप्त करना होता है, जिसको निम्नलिखित सूत्र द्वारा तय किया जाता है –

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए वैद्य मतों की कुल संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों सदस्यों की संख्या} + 1} + 1$$

निर्वाचन मण्डल के सदस्यों को मत देते समय प्रत्याशियों के नाम के सामने अपनी प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम वरीयताएँ दर्शानी होती हैं। यदि किसी प्रत्याशी को प्रथम वरीयता वाले मतों की गणना किए जाने पर निर्धारित संख्या में मत प्राप्त नहीं होते, तो प्रथम वरीयता प्राप्त सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवारों के मतों को अलग करके उनको द्वितीय वरीयता के आधार पर शेष उम्मीदवारों में विभक्त करके द्वितीय गणना की जाती है। यदि अभी भी किसी उम्मीदवार को निर्धारित मत नहीं मिलते, तो इसी तरीके से मतों की तृतीय व चतुर्थ गणना की जाती है। यह क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक किसी उम्मीदवार को निर्धारित मत प्राप्त नहीं हो जाते।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के विषय में जून, 1997 में किए गए संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति पद के प्रत्येक उम्मीदवार का नाम 50 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित और 50

निर्वाचकों के द्वारा अनुमोदित होना चाहिए। साथ ही उम्मीदवार को 15000 रूपये की जमानत राशि भी जमा करनी होती है। 1974 में दिए गए सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव एक या एक अधिक विधान सभाओं के भंग होने की स्थिति में भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त 44वें संविधान संशोधन, 1978 के अन्तर्गत राष्ट्रपति तथा उप–राष्ट्रपति दोनों के चुनावों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवाद

मूल संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवादों को सुनने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया था। चुनाव में प्रत्याशी रहा कोई भी उम्मीदवार अथवा कम से कम दस निर्वाचकों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में राष्ट्रपति के चुनाव को चुनौती दी जा सकती है। जिस प्रकार 1974 में राष्ट्रपति चुनाव से पहले गुजरात विधान सभा भंग हो चुकी थी। इस स्थिति में राष्ट्रपति ने 29 अप्रैल 1974 को अनुच्छेद 143 के तहत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा की गुजरात विधान सभा भंग रहते क्या राष्ट्रपति का चुनाव हो सकता है। मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सात सदस्यीय संवैधानिक पीठ ने इस प्रश्न पर विचार किया और 5 जून का व्यक्त विचार में कहा कि ''राष्ट्रपति के चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व होने चाहिए और एक राज्य की विधान सभा भंग होते हुए भी ये चुनाव हो सकता है। परन्तु सन् 1975 में पास हुए संविधान के 39वें संशोधन द्वारा इस स्थिति में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति को चुनाव सम्बन्धी विवादों का फैसला सर्वोच्च न्यायालयों की बजाय संसद कानून द्वारा किसी संस्था अथवा समिति की स्थापना करके करेगी। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि इस संस्था द्वारा किया गया निर्णय अन्तिम होगा और उसे किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। परन्तु 44वें संविधान संशोधन द्वारा फिर इस बारे में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी संदेहों तथा विवादों की जाँच और निर्णय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। इसी आधार पर डॉ० जाकिर हुसैन तथा बी०वी० गिरि के चुनावों को उच्चतम

न्यायालय में चुनौती दी गई थी। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने उसको चुनावों को वैद्य घोषित करते हुए याचिकाओं को रद्द कर दिया था।

राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली के दोष

1. राष्ट्रपति के चुनाव की विधि अप्रजातान्त्रिक है, क्योंकि इसमें राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष तौर पर जनता द्वारा नहीं होता।
2. आम (साधारण) व्यक्ति के लिए यह चुनाव प्रणाली उसकी समझ से बाहर है। उचित यह होता कि इसको अधिक सरल व सहज रखा जाता।
3. राष्ट्रपति की चुनाव–प्रणाली के लिए अनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा एकल संक्रमणीय मत शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो गलत है। यह प्रणाली वहाँ अपनाई जाती है जहाँ बहुत सदस्य निर्वाचन करने हो। संविधान सभा में सर्वश्री महाबीर त्यागी, नजीरूद्दीन तथा बेगम अजीज रसूल ने इस चुनाव प्रणााली को आनुपातिक प्रतिनिधित्व का नाम देने पर भी आपत्ति जताई थी। एम०पी० शर्मा के अनुसार इस चुनाव प्रणाली का नाम वैकल्पिक या वरीयता प्रणाली होना चाहिए।
4. इस प्रणाली का यह दोष भी है कि यदि उम्मीदवार दो से अधिक हो और मतदाता केवल एक ही पसन्द का प्रयोग करे। इस प्रकार यदि किसी को पहली संसद पंसद में बहुमत ना मिले तो चुनाव किस प्रकार होगा ? उचित तो यह होता कि राष्ट्रपति पद के लिए तीन या इससे अधिक उम्मीदवार हो और संविधान निर्माता कम से कम तीन पसन्दों को देना अनिवार्य कर देते।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ ग्रहण करना

अपना पद ग्रहण करने से पहले भारत के राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेनी पड़ती है जिसका उल्लेख संविधान की धारा 60 में इस प्रकार किया गया है। ''मैं ईश्वर की शपथ लेता हूँ। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य–पालन करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करूँगा और में भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।''

राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

विधिशास्त्रियों के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है जबकि राजनीति शास्त्रियों का कहना है कि केवल वह संवैधानिक अध्यक्ष है जो शक्ति की बजाय प्रभाव का प्रयोग करता है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा। संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त है।

1. शान्तिकालीन शक्तियाँ
2. आपातकालीन शक्तियाँ

1. शान्तिकालीन शक्तियाँ

राष्ट्रपति द्वारा साधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त होने वाली शान्तिकालीन शक्तियाँ निम्नलिखित है –

(क) विधायी शक्तियाँ

राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। राष्ट्रपति की विधायी शक्तियाँ निम्नलिख्ति है –

1. संसद का अधिवेशन बुलाना तथा सत्रावसान करना : संविधान के अनुच्छेद 58 (1), (2) के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद का अधिवेशन बुलाता है तथा समाप्त करता है। राष्ट्रपति संसद के अधिवेशनों का सजावसान कर सकता है। किन्तु दो सत्रों के मध्य छः माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।
2. संसद के अधिवेशनों का उद्घाटन : लोकसभा चुनावों के बाद गठित सरकार तथा प्रतिवर्ष बजट सत्र के दौरान राष्ट्रपति संसद में अभिभाषण देता है जो सम्बन्धित सरकार की नीतियों का दर्पण होता है।
3. संयुक्त अधिवेशन बुलाना : यदि संसद के दोनों सदन किसी विषय पर असहमति प्रकट करें तो दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।
4. राष्ट्रपतिसंसद के किसी भी सदन को संदेश भेज सकता है।

5. राष्ट्रपति, लोकसभा में दो एंग्लोइण्डियन व्यक्तियों को मनोनीत कर सकता है यदि उन्हें आम चुनाव के दौरान संसद में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला हो। इसी प्रकार राज्य सभा में भी राष्ट्रपति 12 ऐसे व्यक्तियों को मनोनित कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान, सामाजिक जीवन या शिक्षा आदि के क्षेत्रों में विशेष ज्ञान का अनुभव रखते हो।

6. आपातकाल में राष्ट्रपति लोकसभा की अवधि एक वर्ष बढ़ा सकता है।

7. अध्यादेश जारी करने की शक्ति : अनुच्छेद 123 के अनुसार जब संसद के दोनों सदनों की बैठक न हो रही हो तथा किसी विषय पर तत्काल निर्णय लेना हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता हैं जो संसद की अगली बैठक के छः सप्ताह के दौरान अनुमोदित अथवा इसके पश्चात् निरस्त हो जाएगा। ये अध्यादेश मूल अधिकारों के हनन से सम्बन्धित नहीं हो सकते है। राष्ट्रपति के व्यक्तिक समाधान पर आधारित इन अध्यादेशों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। अगर संसद इसे स्वीकृत दे देती है तो यह अध्यादेश कानून बन जाता है। जैसे अटल बिहारी सरकार में राष्ट्रपति द्वारा आतंकवाद के खिलाफ आतंकवादी निरोधक अध्यादेश (POTO) जारी किया था जो बाद में कानून में बदल गया (POTA)। आलोचकों के अनुसार सत्तारूढ़ दल राष्ट्रपति की इस शक्ति का दुरूपयोग करते हैं, जैसे बैकों के राष्ट्रीयकरण के बारे में जो अध्यादेश जारी किया गया था वह संसद के अधिवेशन के शुरू होने से 2–3 दिन पूर्व किया गया था, जो न्याय संगत नहीं था। ए०बी० लाल के अनुसार किसी भी देश में जहाँ लिखित संविधान तथा संसदीय प्रणाली की सरकार हो, राज्याध्यक्ष को ऐसी वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं हैं।

8. लोकसभा को भंग करने की शक्ति : भारत का राष्ट्रपति जब चाहे संसद के निचले सदन को भंग कर सकता है, लेकिन वास्तव में वह इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमन्त्री की सलाह से ही करता है। उदाहरण के लिए सन् 1970 में राष्ट्रपति श्री वी०वी० गिरि ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को

भंग किया था। 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति श्री संजीवा रेड्डी ने चौ० चरण सिंह की सलाह पर लोकसभा को भंग कर दिया था।

9. संसद द्वारा पास किए गए बिलों पर स्वीकृति : संसद में बिलों के पास होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति लेना आवश्यक है। यदि वह किसी बिल को स्वीकृति न दे, तो वह उस (धन विधेयक के अतिरिक्त) बिल को पुनः विचार के लिए संसद के पास वापिस भेज सकता है। यदि वह विधेयक संसद के पास वापिस भेज सकता है। यदि वह विधयेक संसद के दोनों सदनों में पास होकर पुनः राष्ट्रपति के पास चला जाए तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है। जैसे राष्ट्रपति आर०के० नारायणन ने अक्टूबर 1997 तथा सितम्बर 1998 में दो बार उत्तरप्रदेश तथा बिहार के खिलाफ राष्ट्रपति शासन लागू करने के विधेयकों को पुनर्विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के पास भेजा था। इसी प्रकार अगस्त 2002 में राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुलकलाम द्वारा जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2002 को पुनर्विचार के लिए भेजा, परन्तु मन्त्रिमण्डल ने बिना किसी फेरबदल के उसी बिल को वापिस की स्वीकृति के लिए भेज दिया और राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी पड़ी।

10. धन विधेयक, नये राज्यों के निर्माण (जैसे छत्तीसगढ़, उत्तरांचल तथा झारखण्ड) तथा वर्तमान राज्यों की सीमा में परिवर्तन, राज्यों के वित्तीय संसाधनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि को प्रभावित करने वाले विषयों से सम्बन्धित विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बाद ही सदन में प्रस्तुत किए जा सकते है।

11. राज्य विधान मण्डलों द्वारा राष्ट्रपति को भेजे हुए विधेयकों को राष्ट्रपति पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है तथा दोबारा आने पर आर्थिक आधार पर स्वीकृति पूर्णतः रोक भी सकता हैं जो संसद के विधेयकों के सम्बन्ध में अशनः ही लागू होती है।

कार्यपालिका शक्तियाँ

भारतीय संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वह

इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करता है। सारे देश का शासन राष्ट्रपति के नाम पर ही चलाया जाता है। इसकी कार्यपालिका शक्तियाँ निम्नलिखित है –

1. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति तथा प्रधानमन्त्री के परामर्श पर मन्त्रिपरिषद के अन्य मन्त्रियों की नियुक्तियाँ करना;
2. प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रीपरिषद को पद से हटाना;
3. राष्ट्रीय नीतियों तथा कार्यक्रमों में सहमति प्रकट करना तथा प्रधानमन्त्री से सूचना माँगना;
4. देश के संचालन तथा मार्गदर्शन में सहयोग देना;
5. उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करना;
6. भारत के महान्यायवादी (अटार्नी जनरल) की नियुक्ति, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति, राज्यों के राज्यापालों की नियुक्ति, केन्द्र शासित प्रदेशों में आयुक्तों की नियुक्ति, संघ सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति, निर्वाचन आयोग के मुख्य चुनाव आयुक्त तथा चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति, राजदूतों तथा अन्य मिशनों में नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, वित–आयोग, केन्द्रीय सतकर्ता आयोग इत्यादि में नियुक्तियाँ करना राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में है।
7. राष्ट्रपति अनेक पुरस्कारों अंलकारों तथा सम्मान पत्रों इत्यादि का वितरण करता है।

वस्तुतः राष्ट्रपति अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर करता है अर्थात् वास्तविक रूप से ये शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित न होकर मन्त्रिपरिषद में निहित है।

(3) वितीय शक्तियाँ

राष्ट्रपति के नाम से ही प्रतिवर्ष बजट वितमन्त्री द्वारा संसद में पेश किया जाता है। उनकी अनुमति के बिना कोई भी बिल विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया

जा सकता। राष्ट्रपति ही प्रतिवर्ष लेखा परीक्षक की रिर्पोट, वित आयोग की सिफारिशें आदि संसद के समक्ष रखवाता है। भारत की आकस्मिक निधि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। वह संसद की स्वीकृति के बिना इसमें से अचानक पड़ने वाले खर्चो के लिए कुछ धन सरकार को दे सकता है। वह संसद से पूरक, अतिरिक्त और उपवादभूत अनुदानों की मांग कर सकता है। राष्ट्रपति कुछ राज्यों को केन्द्रीय अनुदान दिलाने के लिए आज्ञाप्ति जारी कर सकता है। वह करों से होने वाली आय के वितरण का निर्धारण करता है। संघ तथा राज्यों के बीच करों के विभाजन के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए वित आयोग की नियुक्ति का अधिकार भी राष्ट्रपति को ही प्राप्त है।

(4) न्यायिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति करते है। उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण भी राष्ट्रपति ही करते है। संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार उन्हें क्षमादान का अधिकार दिया गया है। वे दण्ड को पूर्णरूप से क्षमा कर सकते है, स्थागित कर सकते है अथवा दण्ड में परिवर्तन कर सकते है। इस अधिकार का प्रयोग केवल तीन प्रकार के दण्डों पर कर सकते हैं –

1. यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो;
2. यदि दण्ड ऐसे मामलों में दिया गया हो जो केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हो और
3. यदि अपराधी को मृत्युदण्ड दिया गया हो।

व्यवहार में राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही करेगा।

(5) सैनिक शक्तियाँ

तीनों सेनाओं का सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित है, परन्तु वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधि के अनुसार ही कर सकेगा। वस्तुतः युद्ध और शक्ति के समय कानून बनाने का अधिकार पूर्णरूप से संसद को प्राप्त है और बिना संसद की स्वीकृति

या बाद में संसद की स्वीकृति लेने की आशा में, न तो युद्ध की घोषणा कर सकते है और न ही सेनाओं को युद्ध में लड़ने के लिए भेज सकता है।

(6) राजनायिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति विदेशों में देश का प्रतिनिधित्व करते है वे राजदूतों, राजनायिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्य दूतों की नियुक्ति करते है, वे विदेशों के राजनायिक प्रतिनिधियों के प्रमाण–पत्रों को स्वीकार करते है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियां, समझौते या बातचीत राष्ट्रपति के नाम से ही किए जाते है। व्यवहार में ये भी लागू होते है जब इन पर संसद की स्वीकृति मिल जाती है।

(7) राज्यों के सम्बन्ध में शक्तियाँ

राज्यों के राज्यपालों तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति ही करता है। यदि कोई राज्य निम्न विषयों पर अधिनियम बनाना चाहे तो राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है –

1. राज्य द्वारा सम्पति प्राप्त करने के लिए बनाए गए अधिनियम,
2. किसी राज्य के अन्दर या दूसरे राज्यों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाने वाले विधेयकों को राज्य की विधान सभा में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

(8) सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 143 के अनुसार सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय से कानूनन परामर्श ले सकते है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श बाध्यकारी नहीं होता और वह राष्ट्रपति की इच्छा पर है कि वे उस परामर्श को स्वीकार करें अथवा नहीं।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को शान्तिकाल में विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं। शान्तिकाल में यह अपेक्षा की गई है कि वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करेग क्योंकि हमारे देश में संसदात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई। हरिविष्णु कामथ ने संविधान निर्मात्री सभा में ठीक ही कहा था कि ''हम अपने राष्ट्रपति को एक संवैधानिक अध्यक्ष का रूप दे देना चाहते हैं, हमारी यह अपेक्षा है कि वह संसद की सलाह तथा

निर्देश के अनुसार कार्य करेगा।'' वस्तुतः उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल करेगा, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होगा।

आपातकालीन शक्तियाँ

जर्मनी के वाईमर संविधान की भांति भारत के संविधान द्वारा भी राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई है। हमारे संविधान के 18वें भाग में इन शक्तियों का उल्लेख किया गया है। आपातकालीन समस्या के समाधान के लिए शक्तियों का कुछ केन्द्रीयकरण आवश्यक हो जाता है। जिसे यह भी सम्भव है कि कार्यपालिका निरकुंश रूप धारण करने का प्रयत्न कर सकती है। संविधान में इस संदर्भ में प्रायः कुछ विशेष रक्षक प्रावधान समावेशित किए गए है जो कार्यपालिका की निरकुंश बनने की प्रवृति पर अवरोध लगाते है। 44वें संविधान संशोधन के तहत आपातकालीन प्रावधानों को सुरक्षा कवच पहनाया गया है और अब आपातकालीन शक्तियों के प्रावधान इस प्रकार है –

1. युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न संकट : मूल संविधान के अनुच्छेद 352 में व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि युद्ध, ब्रह्म आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की शान्ति व्यवस्था के नष्ट होने की आशंका है या यथार्थ रूप में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता था। यह स्थिति दो माह तक बिना संसद की स्वीकृति के लागू रह सकती थी और संसद की स्वीकृति मिल जाने पर शासन उसे जब तक चाहता लागू रख सकता था। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत चार बार आपातकाल की घोषणा की गई – 1962, 1965, 1971 (बाहरी आक्रमण) तथा 1975 (आन्तरिक अव्यवस्था के कारण)। संकट काल के दौरान शक्तियों का दुरूपयोग किया गया, विशेषतौर पर 1975 के आपातकाल के दौरान। अतः इन आपातकालीन शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने के उद्देश्य से 44वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर काफी प्रतिबन्ध लगा दिए गए है, जो इस प्रकार हैं –

- अनुच्छेद 352 में ''आन्तरिक अशान्ति'' के स्थान पर ''सशस्त्र विद्रोह'' शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जिससे राष्ट्रपति आन्तरिक अशान्ति की स्थिति में तभी आपात–उद्घोषणा कर सकेगा जब देश के किसी भाग में ''सशस्त्र विद्रोह'' प्रारम्भ हो गया हो।
- राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी जब मंत्री मण्डल लिखित रूप से राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे।
- राष्ट्रपति द्वारा घोषणा किए जाने के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत (पृथक–पृथक संसद के दोनों सदनों के कुल बहुमत एवं उपस्थिति और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत) से इसकी स्वीकृति आवश्यक है तथा लागू रखने के लिए प्रति छः माह बाद संसद की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।
- संसद के साधारण बहुमत द्वार संकटकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है।

आपात उद्घोषणा के प्रभाव

आपात उद्घोषणा के निम्नलिखित संवैधानिक प्रभाव है –

- संसद को सम्पूर्ण देश अथवा उसके किसी क्षेत्र के लिए सभी विषयों अथवा राज्य सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। राज्य सूची के सम्बन्ध में संघ द्वारा निर्मित ये कानून उद्घोषणा भी समाप्ति के छः माह बाद प्रभावी नहीं रहेंगे।
- संघ की कार्यपालिका को राज्यों की कार्यपालिकाओं को यह निर्देश देने का अधिकार हो जाता है कि किस प्रकार शक्ति का प्रयोग करें।
- राष्ट्रपति यह आदेश दे सकता है कि संघ और राज्यों के बीच आय–वितरण सम्बन्धी सभी या कोई भी उपबन्ध चालू वित्तीय वर्ष में उसके निर्देशानुसार संशोधित होते रहेंगे, परन्तु ऐसा आदेश यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाएगा।

- आपातकालीन घोषणा के लागू रहने के समय में 19वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रताएँ स्थगित हो जाएगी और राज्य के द्वारा इन स्वतन्त्रताओं को स्थगित करने वाले कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा। 44वें संविधान संशोधन में प्रावधान किया गया है कि यदि आपातस्थिति सशस्त्र विद्रोह के कारण लागू की गयी है, तो अनुच्छेद 19 की व्यवस्थाओं का स्थगित नहीं किया जा सकता। आपातस्थिति की समाप्ति के बाद ऐसे कानून तत्काल समाप्त हो जाएँगे।
- मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुच्छेद 32वें वर्णित संवैधानिक उपचारों (न्यायालय की शरण) के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है। 44वें संशोधन के आधार पर यह व्यवस्था की गई कि आपातकाल में जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारों के लिए नागरिक न्यायालय की शरण ले सकेगा।

2. राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के असफल होने से उत्पन्न संकट : संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार अगर राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या किसी अन्य प्रकार से यह विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई है कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो वह संकट काल की घोषणा कर सकता है। ऐसा आपातकाल घोषित करने की विधि वही है जो प्रथम प्रकार के संकट के लिए है। मूल संविधान में संकट की समय अवधि छः माह थी। 42वें संशोधन द्वार इस अवधि को पुनः छः माह कर दिया गया है। इससे पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन के एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए जारी रखने का प्रस्ताव संसद तभी पारित कर सकेगी, जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किए जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

घोषणा के संवैधानिक प्रभाव

इस प्रकार की घोषणा के निम्नलिखित परिणाम हो सकते है –

1. राष्ट्रपति किसी भी राज्य अधिकारी का कोई भी कार्यपालिका सम्बन्धित कार्य स्वयं ग्रहण कर सकता है।
2. राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद को हस्तान्तरित कर सकता है तथा संसद को यह अधिकार होगा कि वह उन विधायी शक्तियों को राष्ट्रपति को सौंप दे अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे कि वह उन्हें किसी अन्य अधिकारी को सौंप दे।
3. यदि लोक सभा का सत्र नहीं चल रहा हो, तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की स्वीकृति प्रदान कर सकता है।
4. राष्ट्रपति उद्घोषणा की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है।

संविधान के इन उपबन्धों का अब तक लगभग 125 से भी अधिक बार इस्तेमाल किया जा चुका है।

आर्थिक आपातकाल

धारा 360 के अन्तर्गत यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत पर उसके किसी राज्य के किसी भाग को वित्तीय स्थायित्व संकट में हैं, तो वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता हैं। यदि यह घोषणा संसद दो मास के अन्दर अनुमोदित नहीं करती तो यह अपने आप समाप्त हो जाती है। ऐसा आपातकाल भारत में अभी तक नहीं आया है।

प्रभाव

1. वित्तीय संकट की अवस्था में राष्ट्रपति राज्यों को ऐसे निर्देश दे सकता है जो उसकी दृष्टि से वित्तीय साख बनाये रखने के लिए आवश्यक हो।
2. ऐसे समय में सरकारी कर्मचारियों के वेतन कम कर सकता है।
3. वह आदेश दे सकता है कि प्रत्येक धन बिल उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाए।

4. वह संघ और राज्यों के बीच राजस्व के बटवारें के विषय में आवश्यक बदलाव कर सकता है।

5. वित्तीय साख को बचाने के लिए कोई भी कदम उठा सकता है।

संकलकालीन शक्तियों की आलोचना

1. मौलिक अधिकार अर्थहीन हो जाऐगे। इन शक्तियों के आधार पर वह छः मौलिक स्वतन्त्रताओं को निलंबित कर सकता है तथा उस समय न्यायालय में भी इसको चुनौती नहीं दी जा सकती। ऐसे समय में राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है।

2. संकटकाल में राष्ट्रपति राज्यों के आर्थिक मामलों में दखल दे सकता है। जिससे राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रताओं को बड़ा आघात पहुँचता है।

3. इससे राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन किया जा सकता है क्योंकि सत्ताधारी दल अन्य दलों पर भारी पड़ने का प्रयास कर सकता है।

4. संकटकाल में न्यायापालिका के अधिकारों को सीमित किया जाना ठीक नहीं। संविधान की धारा 352 तथा 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकालीन घोषणाओं के औचित्यों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। लेकिन अब 44वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति की घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

5. संघीय ढांचा संकटकाल में एकात्मक सरकार में बदल जाता है। जिससे राज्यों की सरकार समाप्त हो जाती है।

6. वित्तीय संकटकाल में राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन कम कर उनकी स्वतन्त्रता को हानि पहुँचा सकता है।

राष्ट्रपति की स्थिति

राष्ट्रपति की विभिन्न शक्तियों से यह प्रतीत होता है कि वह देश का वास्तविक तथा संवैधानिक मुखिया है परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति को देखा जाए तो ऐसा नहीं है। इसलिए भारतीय राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का निर्धारण एक अत्याधिक विवादग्रस्त प्रश्न है। संविधान के अनुच्छेद 53 के द्वारा राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ दी

गई है व्यवहार में वह स्वयं के विवेक के आधार पर इन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 74 (1) में निहित शक्तियों के अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होगा और वह चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है। डी० एन० बनर्जी के अनुसार ''क्या राष्ट्रपति को अनुच्छेद 74 (1) के उपबन्ध मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है। क्या राष्ट्रपति हर स्थिति में अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने को बाध्य है। मैं तो कहता हूँ कि ऐसी नहीं है।'' प्रारूप समिति के वैधानिक सलाहकार श्री बी०एन० राव लिखते है कि ''संविधान राष्ट्रपति का कोई ऐसा वैधानिक उत्तरदायित्व निश्चित नहीं करता है कि वह मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर कार्य करेगा। क्या वह और किसी सीमा तक ऐसा करने के लिए बाध्य होगा, परम्परा का विषय है।'' संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का भी यही मत था कि ''अनुच्छेद 74 (1) यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी ही होगी। 18 सितम्बर, 1951 को प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने एक नोट भेजा कि किसी भी बिल की स्वीकृति के समय, संसद को संदेश भेजते समय तथा बिलों को पुनर्विचार के लिए भेजते समय वह अपने विवेक से कार्य करेगा, न कि मन्त्रिपरिषद की सलाह पर। इसके बाद प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रपति के विचारों को मद्रास में ए०के० अय्यर तथा अटार्नी जनरल एम०सी० सटालबद के पास उनकी सलाह के लिए भेजा, तो दोनों ने राष्ट्रपति के विचारों के खिलाफ राय दी और कहा कि इससे पूरे संविधान का ढांचा हिल जाएगा और राष्ट्रपति एक तानाशाह बन सकता है।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने 28 नवम्बर, 1960 को भारतीय विधि संस्थान में भाषण के दौरान इस आवश्यकता पर बल दिया कि ''वैज्ञानिक पद्धति से इस सन्दर्भ में अध्ययन और परीक्षण होना चाहिए, जिससे राष्ट्रपति के कार्यो एवं शक्तियों की सीमाओं का आभास हो सके।''

सन् 1967 में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार सुबाराव तथा समर्थकों के द्वारा 'स्वतन्त्र राष्ट्रपति' धारणा के बारे में कहा था कि राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रधान नहीं है और उस पर संविधान की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने का विशेष भार है।

अतः इस पक्ष के संवैधानिक प्रधान ही बनाना था तो उसको कुछ ऐसी शक्तियाँ क्यों दी गई जो अध्यक्षात्मक प्रणाली में पाई जाती है। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सभी परिस्थितियों में मन्त्रीपरिषद की मन्त्रणाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं होगा।

भारतीय राष्ट्रपतियों की भूमिका के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन करना एक महत्वपूर्ण पहलू हैं और यह अध्ययन राष्ट्रपति के व्यक्तित्व, तत्कालीन परिस्थिति तथा प्रशासन में उनकी स्थिति पर निर्भर करता है।

सर्वप्रथम डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा पं० जवाहरलाल नेहरू के बीच हिन्दू कोड बिल के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हुए। तिब्बत को चीन के अंग के रूप में स्वीकार करने के शासन के दृष्टिकोण से भी डॉ० प्रसाद सहमत नहीं थे। केरल के साम्यवादी शासन के विरूद्ध कांग्रेसी आन्दोलन (1959) को राष्ट्रपति नितान्त अनुचित मानते थे। डॉ० प्रसाद द्वारा सोमनाथ मन्दिर के उत्सव की अध्यक्षता, दिसम्बर 1950 में पटेल की शवयात्रा में भाग लेने और 1952 में बनारस यात्रा के अवसर पर श्रद्धावश पण्डितों के पैर धोने के सम्बन्ध में नेहरू के विरोध को अस्वीकार करते हुए अपने विवेक के अनुसार कार्य किया। सौभाग्यवश इन मतभेदों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त नहीं किया गया।

दूसरे राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन प्रशासन में स्वतन्त्र रूप से भूमिका की आकांक्षा रखते थे। जैसे जनरल थापर के त्यागपत्र देने पर जनरल चौधरी की नियुक्ति करना राधाकृष्णन के परामर्श का ही परिणाम था जब कि पं० नेहरू जनरल कौल को इस पद पर नियुक्त करना चाहते थे। पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रतापसिंह कैरों के विरूद्ध जांच आयोग बैठाने का कार्य भी नेहरू ने अपनी इच्छा के विरूद्ध और डॉ० राधाकृष्णन के आग्रह पर ही किया था।

डॉ० जाकिर हुसैन के राष्ट्रपति के काल में बदली हुई दलीय स्थिति के कारण उनकी केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों में भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती थी परन्तु राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री की पसन्द के उम्मीदवार होने के कारण दोनों में इस प्रकार का

कोई मतभेद नहीं हुआ। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति जाकिर हुसैन पूर्णरूप से प्रधानमन्त्री के कार्यो से सहमत रहते थे।

श्री वी०वी० गिरि तथा प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के सम्बन्ध सन् 1972 के अंत तक मधुर रहे परन्तु 1973 के बाद में राष्ट्रपति शासन को परामर्श देने, चेतावनी देने तथा भर्त्सना करने का कार्य करने लगा। सन् 1974 में रेलवे हड़ताल के सम्बन्ध में और गुजरात विधानसभा भंग किए जाने के सम्बन्ध में उनके विचार प्रधानमन्त्री से मेल नहीं खाते थे।

1974 में राष्ट्रपति पद के लिए यह धारणा अपनाई गई कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री का आदमी हो और फखरूद्दीन अली अहमद को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति अहमद के द्वारा 24 जून 1975 की रात्रि को आपातकालीन उद्घोषणा पर यह जानते हुए हस्ताक्षर किए कि मन्त्रिमण्डल ने इस विषय पर विचार नहीं किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय राष्ट्रपति एक रबड़ की मोहर के रूप में कार्यरत है।

सन् 1977 में भारत के संवैधानिक इतिहास में पहली बार किसी महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न पर प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच मतभेद व राज्यों की विधान सभाएं भंग किए जाने पर देखा गया। बी०डी० जत्ती ने स्थिति का अध्ययन करने के नाम पर 24 घण्टे से भी अधिक समय तक मन्त्रिमण्डल के निर्णय पर अपनी स्वीकृति नहीं दी, परन्तु बाद में मन्त्रिमण्डल के परामर्श को स्वीकार कर लिया गया। नीलम संजीव रेड्डी का राष्ट्रपति पद पर (जुलाई 1977) सर्वसम्मत निर्वाचन हुआ और इससे राष्ट्रपति पद तथा पदधारी की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। 15 जुलाई, 1979 को असामान्य परिस्थितियों में मोरारजी देसाई के पद त्याग और यशवन्त राव चौहान द्वारा सरकार बनाने में असमर्थता व्यक्त किए जाने के बाद राष्ट्रपति द्वारा चरण सिंह से प्रधानमंत्री पद के लिए अपने दावे प्रस्तुत करने को कहा और दावे प्रस्तुत किए जाने पर चरण सिंह को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। इसके साथ एक माह के अन्दर उनके द्वारा लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त किए जाने का आदेश दिया। चरण सिंह सरकार वस्तुतः राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सरकार थी क्योंकि उसने लोकसभा में कभी

विश्वास प्राप्त नहीं किया। चरण सिंह सरकार द्वारा प्रस्तावित नजरबन्दी अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने से पूर्व राष्ट्रपति रेड्डी द्वारा सरकार से कुछ स्पष्टीकरण माँगे गए।

सन् 1980 में श्रीमती इन्दिरा गांधी के पुनः सत्ता में आने पर राष्ट्रपति के मध्य पुनः मतभेद उभरे। सोवियत रूस की यात्रा के लिए श्री संजीव रेड्डी तैयार नहीं थे, परन्तु इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया जब राष्ट्रपति श्री लंका की यात्रा पर जाना चाहते थे तो श्रीमती इन्दिरा गांधी इसके लिए सहमत नहीं हुई और इस प्रकार से ऐसी स्थिति आ गई थी कि देश–विदेश की स्थिति से सम्बन्धित ज्ञान राष्ट्रपति का केवल समाचार पत्रों से ही हो पाता था न कि प्रधानमन्त्री द्वारा।

सन् 1982 में ज्ञानी जैल सिंह के राष्ट्रपति के रूप में चुने जाने के बाद, भारतीय संविधान में यह पहला मौका था कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के बीच बहुत गहरे मतभेद हो गए जो आमजनता के समक्ष भी खुलकर आ गए थे। लगभग दो वर्ष तक केबीनेट का कोई भी मन्त्री राष्ट्रपति के बुलाने पर भी कामकाज के लिए राष्ट्रपति के पास नहीं पहुँचा। इसलिए राष्ट्रपति ने विवादास्पद भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया, सरकार से न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए स्पष्ट नीति न अपनाने के बारे में जवाब माँगा दूरदर्शन के एक तरफा प्रसारण पर ऐतराज उठाया। मुख्य चुनाव आयुक्त को बुला कर हरियाणा के अन्य राज्यों के साथ चुनाव न कराए जाने का कारण पूछा। प्रधानमन्त्री ने प्रोटोकाल की अनदेखी करते हुए राष्ट्रपति को अपनी यात्राओं के बारे में बताना बन्द कर दिया और राष्ट्रपति की जगह उपराष्ट्रपति को विदेश यात्राओं पर भेजना शुरू कर दिया राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह और प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के सम्बन्ध आपस में संविधान की रूपरेखा से बाहर रहे। लेकिन इस सब के लिए प्रधानमन्त्री ही जिम्मेदार थे। 25 जुलाई, 1987 को श्री आर० वेंकटरमण को राष्ट्रपति बनाया गया। राष्ट्रपति आर० वेकटरमण का कार्यकाल ठीक–ठाक चला, केवल अक्टूबर 1987 में केन्द्र सरकार को थोड़ी परेशानी तब हुई जब राष्ट्रपति ने राज्यपालों को चिट्ठी लिखी कि वे राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना राज्य से बाहर न जाएँ।

25 जुलाई, 1992 को डॉ० शंकरदयाल शर्मा को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री पी०वी० नरसिंह राव के बीच केन्द्रीय सतकर्ता आयुक्त पद पर श्री एस०वी० गिरि की नियुक्ति को लेकर मतभेद हुए थे। राष्ट्रपति द्वारा अगस्त 1995 के भाषण में आर्थिक सुधारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी की गई थी। इन मतभेदों के बावजूद उनका कार्यकाल समरूपताा से चला। कोई असंवैधानिक विवाद नहीं उभरा।

25 जुलाई 1997 को राष्ट्रपति पद संभालने के तीन महीने के अन्दर श्री के० आर० नारायणन ने वो स्थान प्राप्त किया जो इससे पूर्व किसी राष्ट्रपति ने नहीं किया था। 21 अक्टूबर 1997 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन करने की सिफारिश को इन्कार कर राज्य की वैद्य सरकार को बचाया और संविधान के रक्षक के रूप में उदाहरण पेश किया। इससे पहले किसी भी राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के गलत फैसलों को इस तरह नहीं फटकारा था। फरवरी 1998 में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी को लेकर राष्ट्रपति एवं गुजरात मन्त्रिमण्डल के बीच विवाद उत्पन्न हो गया। परन्तु गुजरात मन्त्रिमण्डल ने न राज्यपाल को हटाने की सलाह दी और न ही इस मुद्दे को एजेण्डे में विचार के लिए शामिल किया।

सितम्बर 1998 में राष्ट्रपति ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के मंत्रीमण्डल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटा कर भी अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। 27 जनवरी 2000 को भारतीय गणतन्त्र की 50वीं वर्षगाठ पर एक समारोह में राष्ट्रपति ने जनतांत्रिक गठबन्धन को संविधान के साथ छेड़छाड़ को लेकर सचेत किया। राष्ट्रपति के शब्दों में आज जबकि संविधान की समीक्षा किए जाने और यहाँ तक की एक नया संविधान लिखे जाने की बातें की जा रही है, हमें इस बात पर विचार करना होगा कि हम संविधान की वजह से विफल हुए हैं, या संविधान को हमने विफल किया है।'' सरकारी कर्मचारियों राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों में भाग लेने के मुद्दे को लेकर राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री को पत्र लिखकर स्पष्टीकरण देने को कहा। प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी जो कि विवादों से बचना चाहते थे, राष्ट्रपति को बताया कि उनकी सरकार राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को राजनैतिक संगठन नहीं मानती और वह बात न्यायालयों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है।

25 जुलाई, 2002 को डॉ० एपीजे अब्दुल कलाम को राष्ट्रपति की शपथ दिलाई गयी। राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने भी पूर्व राष्ट्रपति के०आर० नारायणन की तरफ से अगस्त 2002 को जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2002 को पुनर्विचार के लिए अटल बिहारी मंत्रीमण्डल को भेजकर अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। श्रीमती प्रतिभा पाटिल औ प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह का कार्यकाल भी बिना किसी मतभेद के बीता और प्रणव मुखर्जी ने भी अपनी उपस्थिति बनाए रखी। वर्तमान में श्री राम कोंविद का कार्यकाल भी कोई खास प्रभाव नहीं छोड़ पाया।

समस्त विवेचन के आधार पर राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में निम्न बातें कहीं जा सकती है –

1. राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान है : भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था है और इस शासन में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त होती है नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है। राष्ट्रपति को राष्ट्र का प्रतीक और औपचारिक अध्यक्ष कहा जा सकता है। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार, ''हमारे राष्ट्रपति की वहीं स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत सम्राट की है। वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता हैं, किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसका वही स्थान है जो किसी औपचारिक व्यवस्था द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निर्णय को मुहर लगाकर अपने नाम से राष्ट्र के समक्ष घोषित करता हैं।''
2. राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश सम्राट के तुल्य है : संविधान के अनुसार हमारी शासन पद्धति ब्रिटेन की संसदीय अथवा मंत्रिमण्डलीय पद्धति पर आधारित है। ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था के अनुसार सम्राट नाममात्र का ही प्रधान हैं। उसे दो अधिकार मिले हुए है। वे वस्तुतः मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रयोग में लाए जाते है। ठीक यही स्थिति भारत में राष्ट्रपति की हैं जो केवल संवैधानिक राज्याध्यक्ष है। संविधान सभा में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था ''हमने ब्रिटेन के सम्राट की भांति यहाँ राष्ट्रपति का पद बनाया है। उसकी स्थिति संवैधानिक राष्ट्रपति की

है। यद्यपि संविधान में इस आशय का कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियों के परामर्श को मानना ही पड़ेगा, परन्तु यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार इंग्लैंड में सम्राट को मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करना होता है, उसी प्रकार यही परम्परा यहाँ भी अपनाई जाएगी। इस तरह भारत का राष्ट्रपति सभी मामलों में संवैधानिक राष्ट्रपति बन जाएगा।''

3. राष्ट्रपति संविधान का गौरवपूर्ण अंग : भारत के राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, ''ब्रिटेन में राजा की है। राष्ट्रपति एकता का प्रतीक, देशभक्ति का प्रेरक तथा सामाजिक उत्सवों का आकर्षण है। उसका जीवन और गतिविधियाँ व्यापक सार्वजनिक प्रचार प्राप्त करती है। वह जनता के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का मूर्तरूप है वह राष्ट्रीय उत्सवों का उद्घाटन व राष्ट्रीय समाराहों की अध्यक्षता करता है। गणतन्त्र दिवस पर परेड की सलामी लेकर राष्ट्रपति राष्ट्र की शोभा बढ़ाता है। श्री नेहरू ने संविधान सभा में कहा था, ''हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं दी है वरन् हमने उसके पद को सत्ता और प्रतिष्ठता से विभूषित किया है।''

4. राष्ट्रपति परामर्शदाता और मित्र के रूप में : राष्ट्रपति केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं हैं वह परोक्ष रूप से कार्य करते हुए अपने मन्त्रियों से तदनुसार कार्य करने का आग्रह कर सकता है। उसे मन्त्रियों को परामर्श देने, प्रोत्साहन करने तथा चेतावनी देने की तीन शक्तियाँ प्राप्त है। उसकी गरिमामय स्थिति तथा उसका निष्पक्ष स्वरूप इस तथ्य को निश्चित कर देते है कि उसके द्वारा किया गया परामर्श अत्यधिक सम्माननीय होगा। यदि राष्ट्रपति बुद्धिमान, पराक्रमी तथा चतुर हो तो उसकी उपेक्षा करना प्रधानमन्त्री के लिए असम्भव है।

5. वैदेशिक मामलों को प्रभावित करना : राष्ट्रपति भारत की राजधानी में आने वाले विदेशी अतिथियों का स्वागत करते है। उनकी विदेश यात्राएँ विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाती है। राष्ट्रपति विदेश यात्राएँ विदेशी राष्ट्राध्यक्षों पर एक मधुरिम प्रेरणा की छाप छोड़ती है।

संक्षेप में, राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति काफी हद तक उसको अपने व्यक्तित्व तथा उस समय के प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व तथा स्थिति पर निर्भर करती है। यदि राष्ट्रपति प्रभावशाली व्यक्तित्व का स्वामी है तो वह मंत्रीमंडल के निर्णयों को काफी हद तक प्रभावित कर सकता है, परन्तु यदि उसके मुकाबले में प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली है जैसा कि श्रीमती इंदिरा गांधी के सामने फखरूद्दीन अली अहमद तथा ज्ञानी जैल सिंह का था तो राष्ट्रपति एक सुनहरा शून्य (Golden Zero) तथा हस्ताक्षर करने की मशीन (Signing Machine) ही बनकर रह जाता है।

3.2.4 निष्कर्ष

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि तेजी से बदल रहे राजनीतिक परिदृश्यों में राष्ट्रपति एक निष्क्रिय दर्शक नहीं हो सकता है। भारत की बदल रही राजनीतिक स्थिति राष्ट्रपति की क्रियाशील भूमिका की मांग करती है। भारत में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ने से तथा सांझा सरकारों की राजनीति का उदय हुआ है। जिसके कारण सिद्धांतहीन राजनीति की भूमिका उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। साधारण व्यक्ति इस पद को प्रभावहीन बना सकता है तथा इसके विपरीत प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति इस पद को क्रियाशील होकर सुशोभित कर सकता है।

3.2.5 मुख्य शब्दावली

- महाभियोग : एक प्रकार का मुकद्दमा जो राष्ट्रपति के खिलाफ चलाया जाता है। इसके सही सिद्ध होने पर राष्ट्रपति को अपना पद छोड़ना पड़ता है।
- संयुक्त अधिवेशन : संसद के दोनों सदन किसी विषय पर असहमत हो तो उस स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।
- सत्रावसान : संसद अधिवेशन स्थगित करना।
- केन्द्रीय प्रदेश : वो क्षेत्र जिन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण होता है। केन्द्रिय प्रदेशों का शासन राष्ट्रपति के नाम पर चलाया जाता है।
- मत मूल्य : राष्ट्रपति के चुनाव में प्रत्येक चुने हुए एम०पी० और एम०एल०ए० की वोट की कीमत निकाली जाती है।

3.2.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. ''भारत का राष्ट्रपति संवैधानिक मुखिया है।'' व्याख्या कीजिए।
2. भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों, कार्यो तथा स्थिति का वर्णन करो।
3. भारत के राष्ट्रपति की योग्यताओं, कार्यकाल, चुनाव तथा महाभियोग प्रणाली का उल्लेख कीजिए।
4. भारत के राष्ट्रपति की निर्वाचन विधि का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
5. भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का वर्णन करो। क्या वह तानाशाह बन सकता है ?
6. भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
7. भारत के राष्ट्रपति की परिवर्तित होती भूमिका की समीक्षा कीजिए।
8. भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों और स्थिति का वर्णन कीजिए।
9. भारत के राष्ट्रपति की नियुक्ति, शक्तियों एवं कार्यो का वर्णन करे।
10. राष्ट्रपति की स्थिति पर प्रकाश डालें।
11. क्या राष्ट्रपति संकटकाल में तानाशाह बन सकता है। व्याख्या करे।
12. संकटकालीन शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन करें।

3.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970

- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001

- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

3.3 प्रधानमंत्री (Prime Minister)

3.3.1 परिचय

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है तथा भारत की कार्यपालिका शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित की गई है। किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियाँ औपचारिक हैं और व्यवहार में उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री ही करता है। यद्यपि राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहा गया है तथापि शक्ति संरचना का मूल स्त्रोत ब्रिटेन के समान प्रधानमन्त्री ही है। डॉ० अम्बेडकर के शब्दों में, ''वास्तव में, प्रधानमन्त्री सम्पूर्ण तन्त्र की धूरी है।''

3.3.2 उद्देश्य

- प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की विधि जानना।
- वास्तविक व नाममात्र की शक्तियों का अन्तर जानना।
- प्रधानमन्त्री की परिवर्तित होती भूमिका के बारें में जानना।
- प्रधानमन्त्री की शक्तियों और स्थिति से अवगत होना।
- क्या प्रधानमन्त्री निरकुंश बन सकता है।

3.3.3 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

संवैधनिक प्रावधान के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। जब देश में आम चुनावों द्वारा लोकसभा का गठन होता है तो लोकसभा में जिस राजनैतिक दल का बहुमत होता है उस दल के मुखिया को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति हेतु बुलाया जाता हैं और प्रधानमन्त्री पद की शपथ दिलाई जाती है। इस स्थिति में राष्ट्रपति को विवेक का प्रयोग करने का अवसर नहीं रहता है। राष्ट्रपति अपने विवेक व सूझबूझ का उस स्थिति में प्रयोग करता है जब लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है, जो केन्द्र में स्थाई सरकार बना सके। उदाहरण के लिए सन् 1989 में जब लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला तो राष्ट्रीय मोर्चे के नेता श्री

विश्वनाथ प्रतापसिंह को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया था फिर 1991 में नरसिम्हा राव को, 1998 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इसी प्रकार सन् 1999 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन, जिसमें 23 राजनीतिक दल शामिल थे, को लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और गठबन्धन द्वारा दोबारा श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केन्द्र में मिली जुली सरकार का गठन किया गया। 2004, 2009 में प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह के नेतृत्त्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार बनी।

प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्ति के लिए संविधान में कोई अलग योग्यता नहीं रखी गई हैं। वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है तथा यदि नियुक्ति के समय वह संसद का सदस्य नहीं है तो छः महीने के अन्दर उसे सदस्यता ग्रहण करनी आवश्यक है, अन्यथा उस पद को रिक्त समझा जाएगा। इसलिए उसमें वे सभी योग्यताएँ होनी चाहिए जो भारत के संविधान में लोकसभा का सदस्य बनने के लिए निर्धारित की गई है।

कार्यकाल

संविधान की धारा 75 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है, मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे। लेकिन व्यवहार में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। प्रधानमन्त्री 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, लेकिन जब तक उसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है, वह अपने पद पर बना रहेगा। अभिप्रायः यह हुआ कि प्रधानमन्त्री का कार्यकाल निश्चित नहीं है। लोकसभा में अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा प्रधानमन्त्री को हटाया जा सकता है। 10 जुलाई, 1979 को लोकसभा के विरोधी दल के नेता यशवन्त राव ने प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पेश किया। अविश्वास प्रस्ताव पर मतदान होने से पूर्व ही प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने 15 जुलाई, 1979 को त्यागपत्र दे दिया क्योंकि जनता पार्टी के काफी सदस्यों ने जनता पार्टी को छोड़ दिया था। यह पहला अवसर था जब किसी प्रधानमन्त्री को अविश्वास प्रस्ताव के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। 39वें संशोधन के द्वारा जिसे अनुच्छेद 329 ए, को संविधान में अंकित किया गया था, उस अनुच्छेद को 44वें संशोधन द्वारा संविधान में से निकाल दिया गया हैं। अब प्रधानमन्त्री के चुनाव सम्बन्धी विवादों की सुनवाई उसी प्रकार की

जाती है जिस प्रकार संसद के किसी अन्य सदस्य के विरूद्ध धारा 329 के अधीन होती है।

17 अप्रैल, 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार द्वारा लोकसभा में विश्वास मत खो देने के पश्चात अपना त्यागपत्र दे दिया था। अतः प्रधानमन्त्री का कार्यकाल निश्चित नहीं है।

प्रधानमन्त्री के कार्य एवं शक्तियाँ

भारत का प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री की भांति उसे इतनी शक्तियाँ प्राप्त है कि उसे प्रशासन का केंद्र कहा जाता हैं। प्रधानमंत्री की शक्तियों का वर्णन करते हुए जैनिग्ज (Jenneings) ने उसकी तुलना सूर्य से की है जिसके इर्द–गिर्द ग्रहों की भांति प्रशासकीय यंत्र घूमते है। प्रशासन में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे इतनी शक्ति प्राप्त हों। उनके कार्य तथा शक्तियों का वर्णन निम्नलिखित है –

1. मन्त्री मण्डल का निर्माण करना : संविधान में यह स्पष्ट रूप से दिया गया है कि प्रधानमंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा तथा राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रीपरिषद के दूसरे मंत्रियों को नियुक्त करेगा। व्यवहारिक तौर पर सभी मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री द्वारा ही की जाती है तथा वह मन्त्रिपरिषद में किसी को भी ले सकता हैं। प्रधानमंत्री अपने सहयोगी मंत्रियों का चुनाव करते हुए देश के भिन्न–भिन्न भागों, अल्पसंख्यक जातियों आदि का प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न करता है।
2. विभागों का विभाजन : प्रधानमंत्री अपने साथियों को चुनता ही नहीं उनमें प्रशासकीय विभागों का विभाजन भी करता है। वह किसी भी मंत्री को कोई भी विभाग दे सकता है तथा उसमें परिवर्तन कर सकता है। यद्यपि प्रधानमंत्री अपनी इच्छानुसार विभागों का विभाजन कर सकता है, परन्तु कई बार उसे दल के प्रभावशाली नेताओं की इच्छानुसार विभागों का विभाजन करना पड़ता है।

मन्त्रियों को हटाने की शक्ति : सैद्धान्तिक रूप में मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद–पर्यन्त पद पर बने रहते हैं, परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रियों को पद से अलग करने का निर्णय

प्रधानमंत्री के कहने पर ही करता है। अतः व्यवहार में मन्त्री प्रधानमंत्री के प्रसाद–पर्यन्त अपने पद रहते है ("Theoralically the ministers hold office during the pleasure of the President but in practice, it is pleasure of the Prime Minister during which they remain in Office") अगर प्रधानमन्त्री की दृष्टि से कोई मन्त्री कुशलता से कार्य नहीं कर रहा अथवा अगर वह मन्त्री प्रधानमन्त्री के किसी निर्णय से सहमत नहीं है तो प्रधानमन्त्री उस व्यक्ति को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है, जो कि उस मन्त्री को देना ही होता है, अन्यथा प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को कहकर उसे पदच्युत करवा सकता है। वास्तव में इस बात की नौबत नहीं आती जब भी किसी मन्त्री को यह पता चल जाता है कि प्रधानमन्त्री उसे मन्त्रिपरिषद में नहीं रखना चाहता तो वह स्वयं त्यागपत्र दे देता है।

सन् 1995 में हवाला काण्ड सामने आया। उसमें राव सरकार के कई मन्त्री लिप्त थे। तत्कालीन प्रधानमन्त्री राव ने उन सभी मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल से हटा दिया जो हवाला काण्ड में संलिप्त थे। इसी प्रकार पूर्व प्रधानमन्त्री श्री देवगौड़ा ने श्री तसलीमुद्दीन को मन्त्रिपरिषद से हटाया, क्योंकि उसके विरूद्ध असामाजिक तत्वों से सम्बन्ध का आरोप था।

संसद का नेता

इंग्लैंड की भांति भारत का प्रधानमन्त्री लोकसभा का नेतृत्व करता है। वह सदन में सरकार की नीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घोषणाएँ करता है और प्रश्नों के उत्तर देता हैं। वह लोकसभा में वाद–विवाद को आरम्भ करता है तथा मन्त्रियों की सदन में आलोचना से सुरक्षा करता है। वह अपने दल के सदस्यों को सचेतक (Whips) द्वारा आदेश तथा निर्देश भेजता है तथा उन पर निगरानी और नियन्त्रण रखता है। सदन के वैधानिक कार्यो पर उसका विशेष प्रभाव होता है। वह स्पीकर के साथ मिलकर सदन का कार्य करता है तथा सदन में अनुशासन बनाए रखने के लिए स्पीकर की सहायता करता है।

लोकसभा को भंग का अधिकार

इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह कामन्स सभा को भंग कर दे और इस मामले में उसे मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार का अधिकार भारत के प्रधानमन्त्री को दिया गया है। वह राष्ट्रपति को सलाह देकर लोकसभा को भंग करवा सकता है। जैसाकि 1977 में राष्ट्रपति फखरूद्दीन ने प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। इसी प्रकार चौ० चरण सिंह की सलाह पर राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी ने भी लोकसभा को भंग किया था। सन् 1977 में पूर्व प्रधानमन्त्री इन्द्रकुमार गुजराल के परामर्श पर भी राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया था। इसी प्रकार सन् 1999 में प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया।

राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल में कड़ी का काम करना

प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति तथा मन्त्रिपरिषद के मध्य कड़ी का काम करता है। वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के द्वारा किए गए निर्णय की सूचना देता है तथा राष्ट्रपति के विचार मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखता है। राष्ट्रपति उसे किसी एक मन्त्री द्वारा व्यक्तिगत रूप से किए गए निर्णयों पर मन्त्रिमण्डल का निर्णय लेने के लिए कह सकता है। वह राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार होता है। यदि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से सहमत न हो तो भी उसे परामर्श मानना पड़ता है।

कैबिनेट का नेतृत्व

प्रधानमन्त्री कैबिनेट का नेता होता है। वह कैबिनेट की बैठकों की प्रधानता करता है। राष्ट्रपति कैबिनेट की कार्यवाही में भाग नहीं लेता। प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में ही कैबिनेट सभी कार्य करता है। वह कैबिनेट की बैठक बुलाना है, उसमें विचार किए जाने वाले विषयों की सूची बनाता है, कैबिनेट में विभिन्न विषयों पर बहस संचालित करता है तथा अगर उचित समझें तो उन पर मतदान करवाता है। अधिकतर किसी नीति पर सहमति तभी होती है, जब उस नीति को प्रधानमन्त्री की सहमति प्राप्त हो

जाए। संक्षेप में हम कह सकते है कि कैबिनेट की सम्पूर्ण कार्यवाही प्रधानमन्त्री की देखरेख में होती है।

विभिन्न विभागों में एक कड़ी

कैबिनेट का प्रधान होने के नाते वह एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह विभिन्न विभागों में उत्पन्न होने वाली आपसी समस्याओं, झगड़ों तथा मतभेदों को इस तरह सुलझाता है, जिससे प्रशासनिक कुशलता बनी रहे। कुशल प्रशासन कुशलता बनी रहे। कुशल प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न विभागों में आपसी सहयोग तथा साधनों का समन्वय हो। ऐसे उद्देश्य के लिए प्रधानमन्त्री विभिन्न विभागों में कड़ी की तरह कार्य करता है। वह अन्तर्विभागीय मतभेदों को दूर करने के लिए मध्यस्थ तथा निर्णायक के रूप में भी कार्य करता है।

राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार

प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार है। राष्ट्रपति प्रत्येक मामले पर प्रधानमन्त्री की सलाह लेता है और उसके द्वारा दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करता है, वह उसकी सलाह को मानने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति को प्रशासन के बारे में किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त करनी हो तो वह किसी अन्य मन्त्री से सीधा बात न करके प्रधानमन्त्री से ही बात करता है तथा सूचना प्राप्त करता है।

दल का नेता

प्रधानमन्त्री अपने दल का नेता होता है। दल की नीतियों तथा कार्यक्रम को तैयार करने में उसका मुख्य हाथ होता है। आम चुनाव के समय दल के उम्मीदवारों को खड़ा कर उन्हें टिकट देना तथा उन्हें चुनाव जीतवाने में वह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उस समय वह समस्त देश का दौरा करके जनता से उसके दल के उम्मीदवारों के पक्ष में वोट देने की अपील करता है।

सदन के नेता के रूप में

दल का नेता होने के साथ–साथ वह सदन का भी नेता होता है। प्रधानमन्त्री ही संसद के अधिवेशन बुलाने की तिथि निश्चित करता है। लोकसभा की कार्यवाही चलाने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। कौन–सा बिल कब प्रस्तुत किया जाएगा

और कौन–सा बाद में, किस बिल पर कितना वाद–विवाद होगा। यदि विरोधी दल बिल पेश करना चाहता है तो उस पर वाद–विवाद कब होगा, इन सब बातों का निर्णय स्पीकर, प्रधानमन्त्री और विपक्ष के नेता से सलाह करके करता है। प्रधानमन्त्री ही सदन में महत्वपूर्ण नीतियों को सदन में पेश करता है यदि विरोधी दल द्वारा इन नीतियों की आलोचना की जाती है वह उन आलोचनाओं का उत्तर देता है। विशेषकर प्रधानमन्त्री की महता तब और बढ़ जाती है, जब वह अविश्वास के प्रस्ताव के नाजुक समय में अपने दल की रक्षा करता है।

प्रधानमन्त्री राष्ट्र के नेता के रूप में

प्रधानमन्त्री राष्ट्र का नेता है। सारा राष्ट्र प्रधानमन्त्री की ओर अच्छे प्रशासन व पथ–प्रदर्शन के लिए निगाहें लगाए हुए होता है। साधारणतः चुनाव भी प्रधानमन्त्री के नाम पर लड़े जाते हैं, जैसे सन् 1980 में इन्दिरा गांधी ने चुनाव जीता, ऐसे ही सन् 1989 में श्री वी०पी० सिंह ने जनता को विश्वास दिलाया था कि राष्ट्र को साफ सुथरी सरकार देंगे। इसी प्रकाशन सन् 1998 में लोकसभा चुनाव में यह नारा दिया गया, 'अब की बारी अटल बिहारी' अर्थात् मतदाता दल को महत्व देते ही हैं, लेकिन वो इसके नेता को अधिक महत्व देते है। ठीक इसी प्रकार 2014 में नरेन्द्र मोदी के नाम पर चुनाव में बड़ी सफलता प्राप्त कर पायी बीजेपी सरकार। प्रधानमन्त्री का राष्ट्र के नेता के रूप में महत्व राष्ट्र देश के प्रधानमन्त्री की और देखता है, और जनता उसके विचारों को बड़े ध्यान से सुनती है।

प्रधानमन्त्री और नीति निर्माण

भारत की परराष्ट्र एवं राष्ट्र नीति के निर्माता के रूप में प्रधानमन्त्री की स्थिति अत्यन्त प्रभावशाली है। जहाँ ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के प्रमुख प्रवक्ता है, वहाँ भारत के प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के प्रमुख प्रवक्ता होने के साथ–साथ नीति–निर्माता भी है। पं० नेहरू तो स्वयं महत्वपूर्ण नीति की घोषणा कर देते थे और कभी–कभी उनके सहयोगियों को भी समाचार–पत्रों द्वारा घोषित निर्णय की सूचना मिलती थी। आज प्रधानमन्त्री का कार्यालय देश की नीति निर्धारण का प्रधान स्त्रोत है। यदि अन्य मन्त्रियों ने प्रधानमन्त्री की जानकारी के बिना कोई महत्वपूर्ण निर्णय ले लिया है तो

उसमें परिवर्तन की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। बैंक राष्ट्रीयकरण, संविधान संशोधन आदि जितने भी क्रान्तिकारी निर्णय लिए गए, वे सब प्रधानमन्त्री के ही निर्णय थे।

वस्तुतः प्रधानमन्त्री सभी महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण करता है। इन सभी नीतियों में वह भाग लेता है तथा देश की नीतियों को स्पष्ट करता है। राष्ट्र के नाम सन्देश में वह जनता के समक्ष अपनी सरकार की नीतियों को प्रस्तुत करता है।

प्रधानमन्त्री और आपातकाल

भारतीय संविधान के अन्तर्गत धारा 352, 356, 360 के द्वारा भारत के राष्ट्रपति को तीन प्रकार की संकटकालीन शक्तियाँ दी गई हैं लेकिन वास्तव में इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री की सलाह के अनुसार ही करता है। जैसे अक्टूबर, 1962 में चीन के आक्रमण के समय एवं 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान के आक्रमण के समय तथा 26 जून 1975 को आन्तरिक व्यवस्था के खराब होने पर अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री की सलाह से ही आपातकालीन स्थिति की घोषणा की थी। इसी प्रकार अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति–शासन भी प्रधानमन्त्री की सलाह के अनुसार लगाया जाता है। 44वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल की घोषणा तभी कर सकता है, यदि मन्त्रिमण्डल संकटकाल की घोषणा करने की लिखित सलाह दे।

सरकार का प्रमुख प्रवक्ता

संसद तथा जनता के सामने मन्त्रिमण्डल की नीति और निर्णयों की घोषणा प्रधानमन्त्री द्वारा की जाती है। वह सभी प्रशासकीय विभागों की जानकारी रखता है और जब कभी कोई मन्त्री संकट में हो तो उसकी सहायता करके मन्त्रिमण्डल रूपी नौका को डूबने से बचाने का कार्य प्रधानमन्त्री ही करता है।

प्रधानमन्त्री और योजना आयोग

राष्ट्रीय अर्थ–नीति का निर्धारण योजना आयोग द्वारा किया जाता है और प्रधानमन्त्री योजना आयोग के अध्यक्ष है। योजना आयोग की अन्तरंग सम्बन्ध राष्ट्रीय विकास परिषद ही पंचवर्षीय योजनाओं का निर्धारण करती है। राज्यों को दी जाने

वाली अनुदान सहायता का निर्णय भी इसी संस्था द्वारा किया जाता है और यह संस्था प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में ही कार्य करती है।

प्रधानमन्त्री की अनुग्रह शक्तियाँ

भारत के समस्त उच्च अधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की सलाह से ही राष्ट्रपति करते है। संविधान के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष में 'भारत रत्न', 'पदमविभूषण' और 'पद्मश्री' इत्यादि सम्मानजनक उपाधियों के वितरण की व्यवस्था की गई है। व्यवहार में ये उपाधियाँ प्रधानमन्त्री द्वारा ही स्वीकृत की जाती है।

प्रधानमंत्री की स्थिति (Position of the Prime Minister)

भारतीय राज–व्यवस्था में प्रधानमन्त्री का पद सरकार का सबसे महत्वपूर्ण पद है। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति इस पद पर नियुक्त हो जाता है तो इस पद का महत्व लगातार बढ़ता जाता है। जैनिंग्ज ने लिखा है, 'प्रधानमन्त्री के पद की स्थिति अवश्य ही वह होगी जो उस पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति बनाना चाहेगा और अन्य मन्त्री उसे बनने देंगे।'

भारतीय प्रधानमन्त्री को समकक्षों में प्रथम कहना सर्वथा भ्रमभूलक है। उसकी शक्ति इतनी व्यापक है जितनी विश्व के किसी शासन, यहाँ तक कि अमरीकी राष्ट्रपति को भी प्राप्त नहीं है। तथ्य तो यह है कि सभी दृष्टियों से शक्ति अब संसद के हाथों में नहीं रही है और न ही मन्त्रिमण्डल के हाथों में रही है। अपितु प्रधानमन्त्री के हाथों में केन्द्रित हो गई है। प्रधानमन्त्री का सचिवालय (कार्यालय) शासन–तन्त्र का स्थायी अंग बन गया है। संसदीय दल के नेता के रूप में प्रधानमन्त्री की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दल की शक्ति संरचना में प्रधानमन्त्री ही सर्वोपरि है तथा उसे दलीय संगठन के निर्देशों के प्रति उत्तरदायित्व नहीं बनाया जा सकता।

भारत में भी जन–निर्वाचन वस्तुतः प्रधानमन्त्री का ही निर्वाचन हो गया है, सन् 1971 तथा सन् 1980, 1984, 1989, 1996, 1998 तथा 1999, 2014, 2019 के निर्वाचन सही मायने में व्यक्तित्व के ही चुनाव थे। जिस प्रकार अमरीका में राष्ट्रपति का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण होता है न कि उसका दल और दलीय विचारधारा, भारत में भी प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व ही समूचे चुनाव पर छाया रहता है।

भारत में प्रधानमन्त्री की विशालतम शक्तियों को देखते हुए प्रेसीडेण्ट प्राइम मिनिस्टर (A President Prime Minister) कहा जा सकता है। जिस प्रकार अमरीका के राष्ट्रपति अमरीका के राष्ट्रपति के सचिवों की स्थिति उनके परामर्शदाताओं के समान है, उसी प्रकार भारत में भी मन्त्रियों की स्थिति प्रधानमन्त्री के सलाहकारों जैसी ही है। जिस प्रकार अमरीका में राष्ट्रपति का निर्णय प्रभावशाली होता है। उसी प्रकार भारत में प्रधानमन्त्री का निर्णय ही सर्वोपरि होता है।

भारत के प्रधानमन्त्री की स्थिति को प्रकट करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति के बारे में प्रयुक्त उत्मियों को प्रयोग किया जाता है। मर्लि ने प्रधानमन्त्री के लिए समकक्षों में प्रथम (Prime Minister Pares) उक्ति का प्रयोग किया गया है। विलियम हारकार्ट ने प्रधानमन्त्री को नक्षत्रों के बीच–बीच चन्द्रमा की उपमा दी है। जैनिंग्ज ने प्रधानमन्त्री को सूर्य के समान माना है, जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते है। लेकिन ये सब उक्तियां भारतीय प्रधानमन्त्री की स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन करने में असमर्थ है। व्यवहार में श्री नेहरू की स्थिति किसी भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठा की रही है। हाँ, यदि मोरारजी देसाई, चरण सिंह, विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर, पी०वी० नरसिंह राव, एच०डी० देवगौड़ा, इन्द्रकुमार गुजराल और अटल बिहारी वाजपेयी, मनमोहन सिंह जैसे व्यक्ति प्रधानमन्त्री हैं तो प्रधानमन्त्री पद की स्थिति दुर्बल हो जाती है।

भारतीय शासन प्रणाली में प्रधानमन्त्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है। व्यक्तित्व के अतिरिक्त भी प्रधानमन्त्री की स्थिति को निर्धारित करने वाले कुछ अन्य ये तत्व है – प्रधानमन्त्री को अपने राजनीतिक दल में प्राप्त स्थिति, देश की राजनीति में प्रधानमन्त्री के दल की स्थिति, तत्कालीन राष्ट्रीय और व्यावहारिक राजनीति में प्राप्त सफलता–असफलताएं।

भारत में प्रधानमन्त्री द्वारा तानाशाहीपूर्ण ढंग से कार्य करने की सम्भावनाएं पूर्णतः गलत है। प्रधानमन्त्री नेहरू को पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त थी फिर भी उन्होंने अधिनायक के रूप में कार्य नहीं किया। अधिनायक वादी शैली अपनाने के कारण श्रीमती इन्दिरा गांधी 1977 का लोकसभा चुनाव हार गई।

3.3.4 निष्कर्ष

भारत में किसी प्रधानमन्त्री की सत्ता का आधार बस यही है कि वह राष्ट्र की कितनी सेवा कर सकता है। पिछले वर्षों की कितनी सेवा कर सकता है। पिछले वर्षो के संवैधानिक इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत का प्रधानमन्त्री अपनी विशाल शक्तियों के उपरान्त भी लोकमत के विरूद्ध स्वेच्छाचारी शासक नहीं बन सकता।

3.3.5 मुख्य शब्दावली

- गठबन्धन : कई सारे दलों का सांझा समूह।
- आपातकाल : जब असामान्य परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाए। देश में संकटकाल की घड़ी में आपातकाल की घोषणा की जाती है।
- योजना आयोग : ऐसी संस्था जो पूरे देश के विकास करने हेतु योजनाएं नियोजित करती है।
- मन्त्रिमण्डल : प्रधानमन्त्री की सहायता के लिए एक ऐसा मन्त्रियों का समूह जो विभिन्न महत्वपूर्ण विभागों के मुखिया होते है और प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने में सहयोग करते है।
- विशेषाधिकार : संसद सदस्यों को कुछ परिस्थितियों में दी गई छुटे।

3.3.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत के प्रधानमन्त्री की नियुक्ति, शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. भारत के प्रधानमन्त्री की शक्तियों एवं कार्यो का वर्णन कीजिए। क्या वह तानाशाह बन सकता है ?
3. प्रधानमन्त्री की बदली हुई भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. सन् 1989 के बाद गठबन्धन सरकारों में प्रधानमन्त्री की परिवर्तित भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
5. सांझा सरकारों के दौर में प्रधानमन्त्री की स्थिति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

6. ''प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराबकी आधारशिला है।'' व्याख्या करें।
7. ''प्रधानमन्त्री समस्त शासन प्रणाली की धुरी होता है।'' व्याख्या करें।
8. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार की जाती है।
9. किस अनुच्छेद के तहत भारत के प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था की गई है।
10. क्या भारत का प्रधानमन्त्री तानाशाह बन सकता है ?
11. वर्तमान प्रधानमन्त्री किस दल से सम्बन्धित है।

3.3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967

- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

3.4 संघीय मन्त्रिपरिषद् (Union Council of Ministers)

3.4.1 परिचय

भारत में संसदात्मक शासक प्रणाली की स्थापना की गई है। सैद्धान्तिक रूप से संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गई है तथापि यथार्थ में कार्यपालिका की समस्त सत्ता मन्त्रिपरिषद में निहित होती हैं। वास्तविक रूप में मन्त्रिपरिषद ही शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग करती है। ब्रिटिश मन्त्रीमण्डल के सम्बन्ध में प्रयुक्त उक्तियाँ भारतीय मन्त्रिमण्डल के स्वरूप को अक्षरश प्रकट करती है। रेम्जे म्योर के अनुसार, ''मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यन्त्र है।'' मैरियट के शब्दों में, ''मन्त्रिमण्डल वह धुरी है जिस पर प्रशासन चक्र घूमता है।'' हमारे संविधान के अनुच्छेद 74 में दिया गया है कि, ''राष्ट्रपति को उसके कार्यो के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।'' यह प्रावधान जान–बूझकर रखा गया है तथा संसदीय शासक के लचीलेपन को बनाए हुए है, अन्यथा भारतीय संविधान के विगत व्यवहार से प्रकट होता है कि राष्ट्रपति स्वर्णिम शून्य है एवं मन्त्रिमण्डल ही सक्रिय कार्यपालिका है।

3.4.2 उद्देश्य

- संघीय मन्त्रिपरिषद् का गठन कैसे किया जाता है
- मन्त्रिपरिषद् के कार्यो का मूल्यांकन करना
- मन्त्रिपरिषद् के विभिन्न रूपों को जानना
- नीति निर्माण में मन्त्रिपरिषद् की भूमिका जानना
- मन्त्रिपरिषद् एवं प्रधानमन्त्रि के सम्बन्धों को जानना

3.4.3 संघीय मन्त्रिपरिषद् की मुख्य विशेषताएँ

भारत की मंत्रिमण्डल प्रणाली की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है –

राष्ट्रपति का मंत्रिमण्डल से अलग होना

इंग्लैंड के सम्राट की भांति भारत का राष्ट्रपति भी राज्य का नाममात्र का अध्यक्ष है। यद्यपि समस्त देश का शासन उसी के नाम पर चलाया जाता है, परन्तु वह व्यवहारिक रूप से देश की राजनीति में कोई भाग नहीं लेता। वह प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है और उसके परामर्श पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है, परन्तु राष्ट्रपति न तो मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेता है और न ही उनकी अध्यक्षता करता है। प्रशासन सम्बन्धी सभी निर्णय मन्त्रिमण्डल द्वारा लिये जाते है, जिनकी बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री करता है। प्रधानमन्त्री ही उन बैठकों का कार्यक्रम तैयार करता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की जानकारी राष्ट्रपति को देता है। राष्ट्रपति स्वयं भी यदि चाहे तो प्रधानमन्त्री से किसी विभाग या विषय के बारे में सूचना प्राप्त करता है। कभी–कभी महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रपति अपनी राय प्रधानमन्त्री को दे सकता है। परन्तु उस परामर्श को मानना अथवा न मानना प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है।

सामूहिक उत्तरदायित्व

भारतीय मन्त्रीमण्डल की एक विशेषता इसका सामूहिक उत्तरदायित्व है। संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इससे अभिप्रायः यह है कि यदि मंत्रिपरिषद् का कोई सदस्य कोई कार्य करता है तो उसे समस्त मंत्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है। किसी मन्त्री द्वारा रखा गया प्रस्ताव या नीति सारे मन्त्रिमण्डल की नीति है, क्योंकि कोई भी मन्त्री तब तक लोकसभा के सामने कोई प्रस्ताव नहीं रख सकता जब तक मन्त्रिमण्डल इसको स्वीकृति नहीं देता।

वास्तव में लोकसभा में प्रस्तुत करने से पहले सभी विषयों पर विचार मन्त्रिमण्डल की बैठकों में किया जाता है और यदि किसी एक मंत्री के विरूद्ध लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे या उस द्वारा रखे गए किसी प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दे तो सारी मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ेगा परन्तु यदि किसी मंत्री के मंत्रालय के विषय में विशेष दोष लग जाए या कोई असंवैधानिक घटना हो जाएं तो

केवल उस मन्त्री को ही त्यागपत्र देना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप 1962 में चीन के आक्रमण के कारण जब देश की विदेश नीति असफल सिद्ध हुई और हमारे हजारों वर्ग मील क्षेत्र पर चीन ने अधिकार कर लिया तो समस्त मन्त्रिमण्डल की बजाय केवल सुरक्षामंत्री कृष्ण मैनन ने त्याग पत्र दिया था।

राजनैतिक एकरूपता

मंत्रिमण्डल का निर्माण करते समय इसके सभी सदस्य प्रायः एक ही राजनीतिक दल से लिए जाते है क्योंकि मंत्रिमण्डल राजनीतिक सजातीयता के आधार पर अच्छी तरह से कार्य कर सकती है। यदि वे सदस्य एक ही दल से न होकर संयुक्त सरकार के रूप में कार्य कर रहे होते हैं, जैसे की वर्तमान सरकार है, तो वे राष्ट्रीय नीति तथा राजनीतिक समस्याओं के बारे में प्रायः एक मत नहीं हो पाते और सरकार का कार्य समय जन–कल्याण की बजाय मंत्री कल्याण में ही गुजरता है। इसलिए मंत्रिमण्डल में राजनीतिक एकरूपता होनी बहुत जरूरी है।

गोपनीयता

मंत्रिमण्डीय व्यवस्था में गोपनीयता एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार मन्त्रिमण्डल की बैठकों में होने वाले विचार–विमर्श तथा निर्णयों को गुप्त रखा जाता है। प्रत्येक मंत्री को अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति के सामने पद एवं गोपनीयता की शपथ इसी आधार पर लेनी पड़ती है और यह सभी मन्त्रियों का संवैधानिक कर्त्तव्य है कि वे मन्त्रिमण्डल द्वारा किए गए निर्णयों को गुप्त रखें। यदि कोई मंत्री इस बात का उल्लंघन करे तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है जैसे बजट पेश होने से पहले बाहर पता लग जाने के कारण स्वतन्त्रता के बाद पहले मन्त्रिमण्डल में से श्री आर०के० सामुखन (Sh. R.K. Shanmukhan) को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा था।

अन्तरंग केबिनेट

15–20 सदस्यों का मन्त्रिमण्डल एक बहुत बड़ी संस्था होती है, जिसमें शीघ्रता तथा सफलता के साथ निर्णय ले पाना सम्भव नहीं होता। इस कारण से व्यवहार में मन्त्रिमण्डल के जो सदस्य प्रधानमन्त्री के सबसे अधिक विश्वास पात्र होते है,

प्रधानमन्त्री उनसे सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार–विमर्श कर लेता है। अन्तरंग मन्त्रिमण्डल वास्तव में मन्त्रिमण्डल की एक छोटी समिति है। सन् 1947–50 के काल में सभी महत्वपूर्ण विषयों पर पहले नेहरू तथा सरदार पटेल विचार कर लेते थे और फिर उन विषयों को मन्त्रिमण्डल के सामने रखा जाता था। पटेल की मृत्यु के बाद नेहरू की अन्तरंग मंत्रिमण्डल में मौलाना आजाद था आयंगर शामिल थे। 1954 में आयंगर और किदवई की मृत्यु तथा 1956 में देशमुख के त्याग–पत्र के बाद नेहरू की अन्तरंग मंत्रिमण्डल में शास्त्री, नन्दा, टी०टी० कृष्णामचारी मैनन थे। श्रीमती इन्दिरा गांधी जब प्रधानमन्त्री बनी तो चौहान, अशोक मेहता तथा दिनेश सिंह उनके अधिक विश्वास के पात्र थे, परन्तु बाद में यह स्थिति निरन्तर बदलती रही है। साधारणतया ग्रह, सुरक्षा और वित्त विभागों के मन्त्रियों को अन्तरंग मंत्रिमण्डल में शामिल समझा जाता है। परन्तु वास्तव में इसकी सदस्यता विभागों की अपेक्षा व्यक्तियों पर निर्भर करती है।

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता और उसका नेतृत्व मन्त्रिमण्डल व्यवस्था का एक प्रमुख सिद्धान्त है और भारत में इस सिद्धान्त का सदैव ही पालन किया जाता रहा है। 1950–64 के काल में श्री नेहरू के मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण सर्वोच्चता प्राप्त थी। श्री शास्त्री के सामूहिक नेतृत्व के आधार पर कार्य शुरू किया था, लेकिन 1965 के भारत–पाक युद्ध ने उनके व्यक्तित्व को बहुत अधिक प्रभावशाली बना दिया और 1965 के अन्त तक मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता स्थापित हो गई। 1966 से 1969 के काल में जो स्थिति थी उसे सम्बन्ध में दो विचार हो सकते हैं लेकिन 1969 और उसके बाद 1971 के लोकसभा चुनाव के बाद से श्रीमती गांधी को अपने मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त रही। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रधानमंत्री की सर्वोच्चता का प्रमाण यह है कि कभी किसी मन्त्री के प्रधानमन्त्री से मतभेद हुए तो सम्बन्धित मन्त्री को अपना त्यागपत्र देना पड़ा।

मन्त्रिमण्डल में राज्यसभा को समुचित प्रतिनिधित्व

संविधान में न तो मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गई है और न यह ही बताया गया है कि संसद के दोनों सदनों को मन्त्रिमण्डल में किस अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। संविधान ने यह बात प्रधानमन्त्री के विवेक पर छोड़ दी है। व्यवहार में प्रधानमन्त्री ने सदैव ही राज्यसभा को भी मन्त्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व प्रदान किया है, यद्यपि कभी राज्यसभा का प्रतिनिधित्व अधिक हो गया है कभी कम।

1966 में प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री के निधन के बाद तो प्रधानमन्त्री का चयन भी राज्यसभा से ही किया गया था। श्री एच०डी० देवगौड़ा प्रधानमन्त्री पद पर मनोनीत होने के बाद केबिनेट से समयसभा के लिए निर्वाचित हुए और श्री इन्द्रकुमार गुजराल जब प्रधानमन्त्री पद पर मनोनीत हुए तो राज्यसभा के ही सदस्य थे। श्री मनमोहन सिंह भी राज सभा से ही थे।

मन्त्रिमण्डल की समितियाँ

भारतीय मन्त्रिमण्डल में भिन्न–भिन्न विषयों के सम्बन्ध में कई समितियाँ स्थापित की गई है। राजनैतिक कार्यों सम्बन्धी समिति (Political Affairs Committee) इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति है। प्रत्येक विषय पर उससे सम्बन्धित समिति पहले निर्णय लेती है उस पर फिर समस्त मन्त्रिमण्डल विचार करता है।

मन्त्रिमण्डल के कार्य

मन्त्रिमण्डल संघीय सरकार के प्रशासनिक ढाँचे का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह देश का वास्तविक शासक है। श्री एम०वी० पायली के अनुसार, ''मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय नीतियों की निर्माता, नियुक्तियाँ करने वाली सर्वोच्च सत्ता, अन्तर्विभागीय झगड़ों को निपटाने वाली तथा सरकार के कार्यो में समन्वय उत्पन्न करने वाला सर्वोच्च अंग है। यह निम्नलिखित कार्य करती है –

नीति निर्माण सम्बन्धी कार्य

मन्त्रिमण्डल देश की वास्तविक कार्यपालिका होने के नाते राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता है। इस सम्बन्ध में इसके मुख्य कार्य सामाजिक कल्याण के कार्यो के लिए सरकार का कर्त्तव्य निश्चित करना शांति की व्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित

विषयों पर सोच विचार करना, देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए उपाय सोचना, विदेश नीति बनाना और उसे अपनाना, विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करना, युद्ध और शांति स्थापित करने के लिए विचार करना, विदेशों से सन्धियां और समझौते करना है।

राष्ट्रीय नीति का निर्माण करते समय मन्त्रिमण्डल अपने दल के प्रोग्राम तथा सिद्धान्तों को समक्ष रखता है। व्यावहारिक रूप में राष्ट्रीय नीति की रूपरेखा बहुमत दल की कार्यकारिणी तैयार करती है और मन्त्रिमण्डल उसे विस्तृत रूप से कार्यान्वित करता है। दलीय कार्यकारिणी मन्त्रिमण्डल का नीति के सम्बन्ध में निर्देशन करती है और मन्त्रिमण्डल साधारणतया इनका उल्लंघन नहीं करता। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के प्रति मंत्रियों का सहमत होना आवश्यक हैं यदि कोई मंत्री इससे सहमत न हो तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल केवल नीति का निर्माण ही नहीं करता, अपितु इसे संसद द्वारा इसका अनुसमर्थक करवाना पड़ता है। यदि संसद इसका समर्थन न करे या इसमें संशोधन कर दे तो इस स्थिति में मन्त्रिमण्डल को संसद की इच्छानुसार नीति में परिवर्तन करना पड़ता हैं या त्यागपत्र देना पड़ सकता है या प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को संसद को भंग करने का परामर्श देता है।

प्रशासनिक कार्य

संविधान द्वारा शासन संचालन की शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई हैं और देश का प्रशासन उसके नाम पर चलाया जाता है, परन्तु व्यवहार में इस शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। यह कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों के प्रयोग का मुख्य साधन है और प्रशासनिक कार्य का मुख्य निर्देशक है। देश के प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए उसे कई विभागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक मंत्री के अधीन एक या एक से अधिक विभागों को रखा जाता है जिसके प्रशासन चलाने का उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल के प्रति व्यक्तिगत रूप से तथा संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है परन्तु उन पर आंतरिक नियंत्रण मन्त्रिपरिषद का होता है।

वैधानिक कार्य

संवैधानिक क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल को विशेष महत्व प्राप्त हैं। संसदीय प्रणाली में यद्यपि कानून बनाने का कार्य विधान पालिका का हैं, फिर भी दिन–प्रतिदिन इस क्षेत्र में भी मन्त्रिमण्डल का हस्तक्षेप इतना हो गया है कि यह बिना किसी बढ़ावे ने कहा जा सकता है कि आजकल विधि निर्माण का कार्य संसद की स्वीकृति से मन्त्रिमण्डल ही करता है।

संसद के अधिवेशन बुलाने का निर्णय मन्त्रिमण्डल करता है। यह राष्ट्रपति द्वारा संसद में दिया जाने वाला भाषण तैयार करता है, जिसमें आगामी संवैधानिक कार्यो का वर्णन होता है। मन्त्रिमण्डल हर विषय से सम्बन्धित बिल तैयार करता है और उसे कानून का रूप देने के लिए संसद में पेश करता है। वैसे तो बिल संसद के किसी भी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है परन्तु अधिकतर मन्त्रिमण्डल द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं और संसद का अधिकांश समय मंत्रिमण्डल द्वारा पेश किए बिलों पर सोच–विचार करने तथा उन्हें स्वीकार करने में लग जाता है। संसद के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया कोई भी निजी बिल तब तक पास नहीं हो सकता जब तक उसे मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त न हों।

मन्त्रिमण्डल का कार्य बिलों को संसद में पेश करना ही नहीं, परन्तु इन्हें पास करवाना भी है। मंत्री बिल के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालते हैं और संसद को सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते है। मन्त्रिमण्डल को बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होने के कारण इस द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी बिल स्वीकृत हो जाते है। जिस समय राष्ट्रपति के नाम पर अध्यादेश जारी करता है जिसे संसद द्वारा पास किए कानून की भांति लागू किया जाता है।

वित्तीय कार्य

संवैधानिक रूप से संसद राष्ट्र के धन की संरक्षिका है। उसकी स्वीकृति के बिना न कोई टैक्स लगाया जा सकता है और न ही कोई खर्चा किया जा सकता है। व्यवहार में संसद की इस शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार होता है। मन्त्री ही लोकसभा में बिल पेश कर सकते है। राज्यों की वार्षिक आय तथा व्यय का अनुमान

वितमन्त्री द्वारा तैयार किए जाने के बाद लोकसभा में पेश किया जाता है। बजट के माध्यम से मंत्रिमण्डल नए कर लगाने अथवा पुराने लगे करो को घटाने–बढ़ाने अथवा समाप्त करने के प्रस्ताव को भी संसद के सम्मुख रखती है। मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किए गए प्रस्तावों की सदैव संसद में स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल को संसद में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है। अगर मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित किसी धन–बिल अथवा बजट को संसद रद्द कर दे, तो मन्त्रिमण्डल इसे अपने विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव समझती है तथा त्यागपत्र दे देती है, परन्तु इसके साथ ही राष्ट्रपति को लोकसभा को भंग करने की सलाह भी दे सकती है।

विदेश सम्बन्धों का संचालन

मन्त्रिमण्डल ही विदेश नीति का निर्माण करता है और विदेशी सम्बन्धों का संचालन करता है। अन्य देशों में जाने वाले राजदूतों तथा अन्य प्रतिनिधियों की नियुक्ति राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही करता है। अन्य देशों के साथ सन्धि समझौते करना, युद्ध तथा शान्ति की स्थापना करना आदि विषयों पर भी मन्त्रिमण्डल ही निर्णय लेती है।

विभागों में समन्वय उत्पन्न करना

मन्त्रिमण्डल विभिन्न प्रशासकीय विभागों की कार्यवाहियों में तालमेल उत्पन्न करती है कि प्रशासन समूचे तौर पर मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित की गई नीतियों के अनुसार चले। यदि प्रशासकीय विभागों में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाएं तो मन्त्रिमण्डल उन्हें दूर करती हैं। यह विभागों के आपसी झगड़ों का निपटारा करती है तथा उन पर नियन्त्रण रखती है।

नियुक्तियों पर नियन्त्रण

संविधान द्वारा महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्तियां करने का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है, परन्तु वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श से गर्वनर, राजदूत, अटारनी जनरल, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों, वित आयोग, चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है।

राष्ट्रपति को परामर्श देना

मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति का प्रमुख सलाहकार होता है। मौलिक रूप में संविधान की धारा 74 के अन्तर्गत केवल यह व्यवस्था की गई थी कि ''एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधानमन्त्री होगा तथा यह मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को कार्य करने में परामर्श देगी।'' लेकिन नवम्बर 1976 में संसद द्वारा पारित किए गए 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही करेगा। 44वें संशोधन के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि ''राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् को अपने परामर्श के प्रति साधारण रूप से या विशेष रूप से पुनः विचार के लिए कह सकता है। राष्ट्रपति के आदेशानुसार पुनः विचार करने के बाद जो परामर्श मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को देती है, उस परामर्श के अनुसार कार्य करना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य है।

3.4.4 निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम ये कह सकते है कि संघीय मन्त्रीपरिषद् की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रधानमन्त्री के ऊपर इसका नियन्त्रण रहता है और सभी प्रशासन सम्बन्धी कार्यो को इसकी सहायता के बगैर पूरा नहीं किया जा सकता है।

3.4.5 मुख्य शब्दावली

- कोई नहीं

3.4.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. संघीय मन्त्रिपरिषद् का गठन, कार्यों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. संघीय मन्त्रिपरिषद् के महत्व व स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
3. संघीय मन्त्रिपरिषद् के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए इसके महत्व का वर्णन करे।
4. संघीय मन्त्रिपरिषद् का गठन, कार्यो एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए। इस पर संसद किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ?

5. मन्त्रिमण्डल व मन्त्रिपरिषद् में अन्तर स्पष्ट करें तथा इसके कार्यों व स्थिति का वर्णन करे ?

3.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994

- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

3.5 भारतीय संसद तथा उसकी कार्यप्रणाली
(The Indian Parliament and Its Working)

3.5.1 परिचय

भारतीय संविधान सभा में इस विषय पर लंबी बहस चली थी कि भारत में संसदीय प्रणाली को अपनाया जाए या अध्यक्षतात्मक प्रणाली को। भारतीय संस्कृति, सदियों से चली आ रही है। सामाजिक, राजनीतिक परम्पराओं व वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान–निर्माताओं ने भारत के लिए संसदीय शासन–प्रणाली को अपनाया। वैसे भी देश के नए शासक संसदीय प्रणाली से अधिक परिचित थे, क्योंकि ब्रिटिश शासन ने भारत में अधिकांशतः संसदीय प्रणाली के आधारों पर ही काम किया था। भारत के लिए संसदीय प्रणाली इसलिए भी उपयुक्त समझी गई, क्योंकि भारत एक नवलोकतान्त्रिक राज्य था, जिसके सामने उनके सामाजिक व आर्थिक चुनौतियाँ थी, जिनके लिए एक उत्तरदायी सरकार की आवश्यकता थी।

हमारे संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय विधानमण्डल को संसद की संज्ञा दी गई है और यह संसद द्विसदनात्मक सिद्धान्त के आधार पर संगठित की गई है। संविधान की धारा 76 में दिया गया है, ''संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा और लोकसभा होंगे।'' भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय करना आवश्यक था, इसलिए राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न भाग बनाया गया।

भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति (क्या संसद सम्प्रभु है) (Constitutional Position of Indian Parliament (Is Indian Parliament a Sovereign Body)) डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, ''जनतन्त्रात्मक प्रणाली का केन्द्र बिन्दु राष्ट्र की संसद है। प्रशासन की बागडोर चाहे किसी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद के

अधिकार अक्षुण्ण है और कार्यक्षेत्र तथा कार्य संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप सम्प्रभु है वह शायद बड़े से बड़े संकट का सामना कर सकता है।''

3.5.2 उद्देश्य

- संसद का गठन कैसे किया जाता है
- संसद की कार्य–प्रणाली का विश्लेषण
- क्या भारतीय संसद सम्प्रभु है
- संसद के दोनों सदनों का तुलनात्मक अध्ययन
- संसद के महत्व को जानना

3.5.3 संसद की कार्यप्रणाली

भारत में संसदीय ढांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है जो बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने पर आधारित है, किन्तु फिर भी हमारी शासन व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है। भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने में एक अनुपम और नवीन प्रयोग है। हमारे संविधान–निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुता स्वीकार करने के अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। वे तो भारत के लिए व्यवहारिक शासन व्यवस्था चाहते थे जो कि भारतीय वातावरण में पोषित हो सके। इसी कारण भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया। भारतीय संसद की सार्वभौमिकता पर कतिपय मर्यादाएं इस प्रकार है –

(1) लिखित संविधान

संसद देश के लिखित संविधान की शिशु है। संसद की सार्वभौमिकता हमारे लिखित संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा सीमित है। संविधान के अनुच्छेद 245 (1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। अमरीकी शासन प्रक्रिया के समान भारतीय प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों में अन्तर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून 'साधारण कानून' और 'संवैधानिक कानून' के नाम से जाने जाते है। साधारण कानून के अन्तर्गत स्थापित

विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्थापिकाएं संविधान के विरूद्ध कानून का निर्माण कर सकती।

संघवाद सम्बन्धी प्रावधान

भारत में संघात्मक शासन–व्यवस्था होने के कारण राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधायिका है। ब्रिटिश संसद के तुल्य इसकी शक्तियां असीमित नहीं है।

संविधान में संशोधन

संविधान के कतिपय अनुच्छेदो के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधानमण्डल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के वे अनुच्छेद जिनका सम्बन्ध केन्द्र राज्य सम्बन्धों से हैं, यदि उनमें कोई संशोधन करना हो तो संसद को कम–से–कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन

संसद द्वारा पारित संविधान विरूद्ध विधि को भारत का सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है। न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते है। यह सर्वविदित है कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, केशवानन्द भारती आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया अथवा संसद की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए।

राजनीतिक परिसीमाएं

राजनीतिक दृष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी समुचित सम्मान करना होता हैं। संसद पर प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल का भी नियन्त्रण रखता है। प्रधानमन्त्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है।

यह सत्य है कि हमारी संसद की शक्तियों का क्षेत्र लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्याायलय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली एवं प्रचार

करने वाली संस्था मात्र बन गई है। वस्तुतः भारत में संसद वह नींव है जिस पर हमारे लोकतन्त्र की भव्य इमारत खड़ी है। संक्षेप में हम कह सकते है कि कार्य एवं शक्ति के दृष्टिकोण से भारतीय संसद की स्थिति, संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य की है। दोनों ही प्रकार की अतियों से संविधान निर्माताओं ने संसद की स्थिति की सुरक्षा की है।

भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियाँ

(Powers and Functions of the Parliament)

भारतीय संसद सम्प्रभु नहीं है, किन्तु यह विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है। इसकी शक्तियाँ निम्नलिखित है –

व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ

संसद को संघीय सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संकटकाल की घोषणा के काल में राज्य–सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्राथ्रना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य–सूची के किसी विषय विशेष पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।

वित्तीय शक्तियां

संविधान द्वारा संसद को संघीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। सभी कर सम्बन्धी प्रस्ताव तथा अनुदानों की मांगे संसद द्वारा स्वीकृत होने पर ही प्रभावी होती है क्योंकि संविधान के अनुसार विधि के अधिकार के बिना न तो कर लगाया जाएगा और न एकत्रित किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोक–लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद की स्वीकृति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च का अधिकार नहीं होता है।

कार्यपालिका शक्तियाँ

भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है। अतः मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीकों से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। संसद के सदस्य 'अविश्वास के प्रस्ताव', 'निन्दा प्रस्ताव' एवं 'कामरोको प्रस्ताव' द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्नपूछ सकते है तथा सरकार की आलोचना कर सकते है। संसद सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृत करके और सरकारी विधेयक में संशोधन करके अपना विरोध प्रदर्शित कर सकते हैं।

राज्यों से सम्बन्धित शक्तियां

संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उनकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है। है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहां तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

संविधान संशोधन की सम्बन्धित शक्तियां

संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहां तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

निर्वाचन सम्बन्धी कार्य

संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियां प्रदान की गई है। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचन मण्डल के अंश है। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते है।

महाभियोग का अधिकार

संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता हैं। इसी प्रकार उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पदच्युत करने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।

संक्षेप में कह सकते है कि भारतीय संसद की शक्तियां एवं कार्य विस्तृत है।

संसद का गठन (Composition of the Parliament)

संविधान के अनुच्छेद 79 के द्वारा व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दोनों सदनों से मिलकर होगा, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा तथा लोकसभा होंगे। राज्यसभा उच्च सदन है जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं तथा निम्न सदन लोकसभा है जिसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते है।

राज्यसभा का गठन (Composition of Rajya Sabha)

राज्यसभा संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है परन्तु आजकल यह संख्या 245 है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते है। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और अनुभव प्राप्त हो। शेष सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते है। ये सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता हैं। जिन क्षेत्रों में विधान सभाएं नहीं होती, वहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किए जाते है।

हमारे संविधान में इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है और अमेरिका के समान भारत में संघ की छोटी–बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान यह व्यवस्था

करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों के लिए एक और उसके बाद हर 20 लाख पर एक के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

राज्यसभा के कार्य और शक्तियाँ

(Powers and Functions of the Council of States)

राज्यसभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों से किया जा सकता है –

विधायी शक्तियां

लोकसभा के साथ–साथ राज्यसभा भी विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियां दी गई है। अवित्तीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर होने के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाते है तो राष्ट्रपति के द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि 6 महिने की अवधि के अन्दर दूसरे सदन के द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जाता है। तो संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा के स्पीकर द्वारा की जाती है और संयुक्त बैठक में बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार औपचारिक दृष्टि से अवित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदन समान स्तर पर है। लेकिन व्यवहार में राज्यसभा किसी विधेयक को पारित करने में अधिक से अधिक 6 माह का विलम्ब कर सकती है। यह लोकसभा द्वारा इच्छित विधेयक के पारित होने में स्थाई बाधा नहीं डाल सकती।

संविधान संशोधन की शक्ति

संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है संविधान संशोधन का विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और संशोधन प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जाएगा, जबकि उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग अलग कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाए। संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में संशोधन गिर जाएगा।

वित्तीय शक्ति

राज्यसभा को महत्वहीन वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त है, यद्यपि संविधान द्वारा ही इस सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गई है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाऐगे। लोकसभा द्वारा स्वीकृत होने पर वित्तीय विधेयक राज्यसभा में भेजें जाऐगे जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक इस विधेयक पर विचार किया जा सकेगा। राज्यसभा वित्त–विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह उन प्रस्तावों को माने या न माने।

कार्यपालिका शक्ति

संसदात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मन्त्रिपरिषद केवल लोकसभा के प्रति ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी है न कि राज्यसभा के प्रति राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते है और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यपारिणी पर नियन्त्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

विविध शक्तियां

राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त है जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर कर सकती है। ये शक्तियां और कार्य इस प्रकार हैं –

1. राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते है।
2. राज्यसभा के सदस्य लोकसभा सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते है।
3. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।
4. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति बहुमत से प्रस्ताव पास कर राष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा से ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।
5. एक मास से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा तथा राज्यसभा दोनों से होना आवश्यक है।

विशेष अधिकार

अन्त में राज्यसभा को दो ऐसे अनन्य अधिकार भी प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। ये शक्तियां है –

1. अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले दो–तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती हैं। राज्यसभा द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास कर दिए जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती हैं। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए लागू होता है। लेकिन यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।

2. संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो–तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है।

राज्यसभा की शक्तियों के इस अध्ययन से यह पता चलता है कि संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गई है, प्रतिद्वन्द्वी सदन की नहीं। लोकसभा की तुलना में निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और उसकी शक्तियों का महत्व हैं।

राज्यसभा का आलोचनात्मक मूल्याकंन

(Critical Evaluation of Council of States)

राज्यसभा की शक्तियों को देखकर यह स्पष्ट है कि लोकसभा की तुलना में यह एक बहुत ही कम शक्तिशाली अर्थात् दुर्बल सदन हैं। इसके सदस्यों के लिए जो चुनाव प्रणाली अपनाई गई है। उसकी भी आलोचना की जाती है। चूंकि सदस्यों का चुनाव दलीय आधार पर किया जाता है, वह अपने राज्यों के हितों की परवाह न करते हुए दल के हितों को अधिक महत्व देते है। राष्ट्रपति के द्वारा जो सदस्य मनोनीत किए जाते हैं, वे भी प्रायः सत्ताधारी दल का ही समर्थन करते है। धन बिलों को पास करने में राज्यसभा बिल्कुल शक्तिहीन हैं और साधारण बिलों के पास करने में भी उसे बहुत कम शक्ति प्राप्त है।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि राज्यसभा की कोई उपयोगिता नहीं है। यह सदन निम्नलिखित कारणों से उपयोगी है –

राज्यसभा उस स्थिति में संकटकालीन घोषणा की स्वीकृति देती है जब लोकसभा भंग हो चुकी हो। संविधान के अनुसार यद्यपि राष्ट्रपति द्वारा की गई घोषणा में दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है परन्तु यदि लोकसभा भंग हो और राष्ट्रपति द्वारा की गई घोषणा में दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है परन्तु यदि लोकसभा भंग हो और राष्ट्रपति ने संकटकालीन घोषणा कर दी हो तो यह घोषणा उसी स्थिति में रहेगी यदि राज्यसभा उसे स्वीकृति दे दे।

राज्यसभा ही यदि दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे तो कि राज्य सूची में दिया हुआ कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व सदन है और उसी के हाथों में यह अधिकार होना उचित भी है।

राज्यसभा का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि महत्वपूर्ण विषयों पर वाद–विवाद करे और उन बिलों को पास करने में देरी कर दे जो लोकसभा ने जल्दी से पास किए है।

राज्यसभा लोकसभा की शक्तियों को नियंत्रित करती है। यदि लोकसभा ने कोई बिल पास किया है जो राष्ट्रीय हित के अनुकूल नहीं है तो वह उसे अस्वीकार करके देरी कर सकती है, जिससे बिल में परिस्थितियों के अनुकूल संशोधन करने को संभव बनाती है।

राज्यसभा में सदस्य राष्ट्रपति द्वारा इस आधार पर मनोनीत किए जाते है कि उन्होंने कला, साहित्य, विज्ञान और समाजसेवा में प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन लोगों के सुझावों से राष्ट्र लाभ उठा सकता है।

राज्यसभा में बिलों और अन्य प्रस्तावों के बारे में बहस का स्तर ऊँचा रहता है। वहाँ प्रत्येक बिल पर शांतिपूर्ण ढंग से विचार करके उसके गुण–दोषों पर प्रकाश डाला जाता है। इससे जहाँ बिल के दोष दूर हो जाते है वहां मन्त्रिपरिषद की स्थिति पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोकसभा में तो किसी भी बिल का समर्थन दलीय आधार पर किया जाता है। गुणों और दोषों के आधार पर किसी बिल का इसलिए भी विरोध नहीं किया जा सकता कि यदि सत्ताधारी दल के सदस्य उस बिल का विरोध कर दें और वह पास न हो तो मन्त्रिपरिषद को ही त्यागपत्र देना पड़ता हैं। इस प्रकार राज्यसभा बिलों के गुण और दोषों को प्रकाश में लाकर जनमत बनाने का कार्य करती है।

सार्वजनिक हित के बिल जिनके बारे में कोई दलीय विरोध नहीं है, इस सदन में सरलता से पास किए जा सकते हैं और लोकसभा उन्हें बाद में पास कर सकती है। इससे लोकसभा के समय की काफी बचत हो सकती है।

ऊपर दिए गए विवरण के आधार पर हम यह कह सकते है कि राज्यसभा को एक व्यर्थ तथा गौण श्रेणी सदन (Secondary House) कहना ठीक नहीं है।

लोकसभा (House of People)

संघीय संसद के निम्न सदन या लोकप्रिय सदन को लोकसभा का नाम दिया गया है। लोकसभा की सदस्य संख्या समय–समय पर परिवर्तित होती रही है। संविधान में उपबन्ध है कि लोकसभा के 530 से अधिक सदस्य राज्यों में प्रादेशिक निर्वाचन दलों से प्रत्यक्ष रीति से चुने जाऐगे और 20 सदस्य संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेगे जिनका निर्वाचन ऐसी रीति से होगा जिसे संसद विधि द्वारा उपबन्ध करे। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति आंग्ला–भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए दो से अधिक सदस्य मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार सदन की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो, ऐसी संविधान में परिकल्पना की गई है लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रीति से होगा तथा वोट का प्रयोग करने के लिए 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को व्यस्क माना गया है। अब लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एंकल सदस्यीय' रखें गए है। 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व तक लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष था, लेकिन इस संशोधन द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया। अब 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पुनः यह 5 वर्ष कर दिया गया है।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद (Office of the Speaker)

अध्यक्ष का पद संसदीय शासन प्रणाली में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व से जहां पर भी संसदीय पद्धति की सरकार है, वहां संसद के निम्न सदन के स्पीकर को विशेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। संविधान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वयं करती है। अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उस लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता है।

अध्यक्ष की शक्तियाँ

लोकसभा का सबसे महत्वशाली रूढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अनन्य

निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियों तथा उसके कर्त्तव्यों का उल्लेख नियमों में तथा कुछ हद तक संविधान में किया गया है। जिन नियमों के अनुसार उसे अपना काम करना होता है, वे नम्य है और कुछ मामलों में उसे अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। उसके कर्त्तव्य बड़े कठिन है। उसके कार्य निम्नलिखित है –

सदन की बैठकों की अध्यक्षता करना

स्पीकर का सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोकसभा की बैठकों की अध्यक्षता करना हैं। वह इस कार्य को बिना किसी पक्षपात के करता है। इस व्यवस्थाा को अधिक निश्चित बनाने के लिए ही उसे पद से हटाए जाने के लिए सदन के समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास किए जाने की व्यवस्था की गई है ताकि वह किसी विशेष दल आदि के प्रभाव के अधीन न रहे। दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों की अध्यक्षता भी लोकसभा का स्पीकर ही करता है।

सदन को स्थगित करना

स्पीकर को अधिकार है कि वह लोकसभा की गणपूर्ति न होने की हालत में सदन को स्थगित कर सकता है। इसी प्रकार सदन में गंभीर प्रकार के उपद्रव होने की हालत में भी वह सदन की कार्यवाही को निलंबित कर सकता है।

वाद–विवाद का समय निश्चित करना

सदन के नेता के परामर्श से स्पीकर राष्ट्रपति द्वारा सदन के आगे दिए भाषण पर वाद–विवाद का समय निश्चित करता है। वही राष्ट्रपति के भाषण से सम्बन्धित धन्यवाद प्रस्ताव में संशोधन का रूप निर्धारित करता है।

सदन का कार्यकाल निश्चित करना

सदन के नेता की सलाह से स्पीकर सदन का कार्यक्रम तथा उसका क्रम निर्धारित करता है। वह निर्णय करता है कि कौन–सा बिल किस समय सदन के सम्मुख किया जाए या कौन–से विषय पर किस दिन बहस की जाए। सदस्यों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों और उनके उत्तरों के लिए भी समय और दिन स्पीकर ही निश्चित करता है।

सदन की कार्यवाही चलाना

सदन की कार्यवाही संचालन करने की जिम्मेदारी स्पीकर की है। वह सदन के सदस्यों को भाषण देने की आज्ञा देता है और भाषण देने वालों को क्रम निर्धारित करता है। सदन के सदस्य स्पीकर को ही सम्बोधित करते है, एक–दूसरे को नहीं। वह प्रश्न भी स्पीकर के द्वारा ही पूछते हैं, प्रत्यक्ष रूप में नहीं। प्रस्तावों की स्वीकृति का निर्णय भी स्पीकर ही करता है। व्यवस्था प्रश्नों के बारे में भी स्पीकर का निर्णय अंतिम होता है।

यदि सदन की कार्यवाही में भाग लेने वाले किसी सदस्य को हिन्दी या अंग्रेजी भाषा न आती हो तो स्पीकर उसे अपनी प्रादेशिक भाषा बोलने की आज्ञा दे सकता है। सदन के नियमों की व्याख्या का अधिकार भी स्पीकर को ही प्राप्त है और इस बारे में उसका निर्णय अंतिम होता है।

वित्तीय बिलों का प्रमाणित करना

संविधान के अन्तर्गत स्पीकर को यह प्रमाणित करने की शक्ति प्राप्त है कि विशिष्ट बिल वित्तीय बिल है या नहीं। इस बारे में उसका निर्णय अंतिम होता है। जिस बिल को वह वित्तीय बिल प्रमाणित कर दे वह केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा द्वारा पास होने के बाद राज्यसभा उसे 14 दिन से अधिक समय के लिए नहीं रोक सकती और लोकसभा की इच्छा के बिना न वह इसमें संशोधन कर सकती है।

बिलों से सम्बन्धित शक्ति

कोई भी बिल स्पीकर की स्वीकृति के बिना लोकसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता स्पीकर ही बिल पर सदन का मतदान लेने के बाद उसे सदन द्वारा पास किया गया प्रमाणित करता है।

मतदान करवाना

स्पीकर विभिन्न विषयों और बिलों पर वाद–विवाद समाप्त होने के पश्चात उस पर मतदान करवाता है और उसको परिणाम घोषित करता है।

स्थगन प्रस्ताव की स्वीकृति

जनहित से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर सोच विचार करने के लिए रखे जाने वाले स्थगन प्रस्ताव के लिए स्पीकर की सहमति लेना अनिवार्य है। वह ऐसे प्रस्ताव पर होने वाले वाद–विवाद का समय निर्धारित करता है। इसी प्रकार किसी बिल के बारे में हो रही बहस पर स्थगन प्रस्ताव के लिए भी स्पीकर की सहमति लेना आवश्यक है।

अनुशासन बनाए रखना

सदन में अनुशासन बनाए रखने की जिम्मेवारी भी स्पीकर की ही है और उसे इसके लिए आवश्यक शक्तियां प्राप्त है। वह किसी सदस्य को उपद्रवी, आचार व्यवहार के लिए सदन से निकाल जाने का आदेश दे सकता है। यदि कोई सदस्य सदन की कार्यवाही में बाधा डाले तो स्पीकर उसे कार्यवंचित कर सकता है। उसकी आज्ञा के बिना कोई अज्ञात व्यक्ति सदन में प्रवेश नहीं कर सकता।

सदस्यों के अधिकार सुरक्षित रखना

स्पीकर लोकसभा के सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखता है। उसका यह कर्तव्य है कि बहुमत दल की तानाशाही स्थापित न होने दे कि कहीं अल्पमतों को दबा न दिया जाए। सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर ठीक ढंग से दिए जाए इसकी जिम्मेवारी स्पीकर की है।

स्पीकर प्रश्नों की स्वीकृति का निर्णय करता है और ऐसे प्रश्नों को अस्वीकार भी कर सकता है जो सदन के नियमों के अनुकूल न हों। यदि कोई व्यक्ति या संस्था सदन के सदस्यों के विशेष अधिकारों का उल्लंघन करे तो स्पीकर उन्हें सुरक्षित रखने के लिए उचित कार्यवाही करता है।

सदन के नियमों की व्याख्या करना

सदन के नियमों की व्याख्या करने की शक्ति भी स्पीकर को ही प्राप्त है। इस बारे में उसके निर्णय को किसी न्यायपालिका में चुनौती नहीं दी जा सकती। जब स्पीकर कुछ कहने के लिए खड़ा होता है तो सब सदस्य अपनी सीटों पर बैठ जाते हैं उस समय तक सदस्य सदन से बाहर नहीं निकल सकते जब तक कि स्पीकर अपना भाषण समाप्त न कर ले स्पीकर संसद और राष्ट्रपति के मध्य कड़ी का काम करता है।

स्पीकर चाहे सदन के वाद–विवाद में भाग नहीं लेता और न ही साधारणतया वह मतदान में भाग लेता है परन्तु यदि किसी विषय के पक्ष या विपक्ष में समान मत पड़े तो स्पीकर अपना निर्णायक मत (Costing Vote) दे सकता है।

सदन की प्रवर समितियों (Select Committees) के अध्यक्ष की नियुक्ति भी स्पीकर ही करता है। ऐसी नियुक्ति वह समिति के सदस्यों में से ही करता है।

अध्यक्ष की वाास्तविक स्थिति (Actual Position of the Speakeer)

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। पं० नेहरू के शब्दों में, ''अध्यक्ष सभा का प्रतिनिधी है। वह सभाकी गरिमा और उसकी स्वतन्त्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए एक तरफ से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अतः यह उचित ही है कि अध्यक्ष का पद सम्मानित पद है। उसकी स्वतंत्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो साधारण रूप से योग्य तथा निष्पक्ष हो। लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम०एन० कौल के अनुसार, ''यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है। निगरानी रखता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उसकी शक्तियां राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। ... यथार्थ में भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोकसभा का अध्यक्ष उस सन्तुलन–चक्र के समान है जिससे कार्यपालिका के सम्बन्ध में सरकार की और से हम यह चाहेंगे कि मानवीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतंत्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार के खतरे से करेंगे – कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी।'' अध्यक्ष के निर्णय नजीरें है जिनसे आगे आने वाले अध्यक्षों, सदस्यों तथा अधिकारियों का पथ–प्रदर्शन होता है। ऐसी नजीरों का संग्रह कर लिया जाता है और समय आने का यही या तो प्रक्रिया नियमों में परिवर्तित हो जाते है और या परिपातियों के रूप में इनका अनुसरण किया जाता है। अध्यक्ष के निर्णयों को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अवमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नहीं होता। अध्यक्ष

द्वारा दिए गए विनिर्णय या वक्तव्य किए गए विचार या दिए गए मनतव्य की आलोचना नहीं की जा सकती। लोकसभा का अध्यक्ष भारतीय संसदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत के अन्तसंसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह और राष्ट्रमण्डल संसदीय संस्था की मुख्य शाखा के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्श से विदेशों को जाने वाले विभिन्न संसदीय प्रतिनिधि मण्डलों के लिए सदस्यों का नाम निर्देशन करता है। कभी कभी वह स्वयं इन प्रतिनिधिमण्डलों का नेतृत्व करता है।

संसदीय सचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियन्त्रण में होती है। इस दिशा में सारा प्रशासन अध्यक्ष के आदेश से ही चलता है। सदन के कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते है।

प्रो० पायली के अनुसार कुछ ही वर्षों के भीतर लोकसभा के अध्यक्ष पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाए रखा है। शुरू में पावलंगकर जैसे अध्यक्ष इस विचारधारा के थे कि सदन में वह निर्दलीय व्यक्ति के समान अचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है परन्तु बाद के अध्यक्षों जैसे नीलम संजीव रही तथा गुरदयाल सिंह ढिल्लन ने अध्यक्ष पद धारण करते ही दल की राजनीति से संन्यास ले लिया। अध्यक्ष को भारत में सांतवा स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर का है। अध्यक्ष को लोकसभा के अभिभावक का सा दायित्व निभाना होता है। सदन में व्यक्तिगत आरोप–प्रत्यारोप के बजाए स्वस्थ विचारों के आदान–प्रदान को समुचित अवसर प्रदान करना होता है।

लोकसभाकी शक्तियां और कार्य

(Powers and Functions of Lok Sabha)

भारतीय संसद के दो सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियंत्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही

प्राप्त होती है। लोकसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यो का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है।

विधायी शक्ति (Legistative Power)

संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघ सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवित्तीय विधयेकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किए जा सकते है और दोनों सदनों से पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जाएंगे, लेकिन साथ ही दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाए जाने की व्यवस्था है और लोकसभा में सदस्य संख्या राज्यसभा की संख्या की दुगुनी से भी अधिक होने के कारण सामान्यतया इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा के पास है और राज्यसभा साधारण अवित्तिय विधेयक को 6 मास तक रोके रखने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती है। व्यवहार को अन्तर्गत अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते रहे हैं।

वित्तीय शक्ति (Financial Power)

भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्बन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है और इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते है, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है और राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि उसे वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर–अन्दर विधेयक लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन इन्हें स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या

सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक लोकसभा को न लौटाए, तो निश्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया जाएगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांग की लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती है और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति (Power of Control over Executive)

भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है। अतः संविधान के अनुसार कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यो के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक पूछ सकते है तथा उनकी अलोचना कर सकते है। संसद सरकारी विधेयक अथवा बजट को स्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोकों प्रस्ताव (Adjourvment Motion) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है अन्तिम रूप से लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमण्डल को उसके पद से हटाया जा सकता है।

संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति (Power of Amending the Consitituion)

लोकसभा को संविधान में संशोधन और परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन कार्य संसद के द्वारा ही किया जा सकता है और इसी अनुच्छेद में उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, जिसे संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा की स्थिति समान है। क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकता है और उन्हें तभी पारित समझा जाएगा, जबकि उन्हें संसद के दोनों सदन अलग–अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित कर दें। संविधान के अधिकांश प्रावधानों में अकेली

संघीय संसद के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है, केवल कुछ ही प्रावधानों में संशोधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है।

निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य (Function as an Electoral College)

लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते है। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती है। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा वह उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

जनता की शिकायतों का निवारण (Redressal of Public Greivances)

लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा निर्वाचित होकर आते है, अतः उनके द्वारा जनता की शिकायतें जनता के विचार और भावनाएं सरकार तक पहुंचाई जाती है। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की चेष्ठा करते है कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यो का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करें।

विविध कार्य (Miscellaneous Functions)

लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार है –

1. लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महावियोग लगा सकती है।
2. उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।
3. लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्ययाधीशों के विरूद्ध महाभियोगों का प्रस्ताव पास कर सकती है।

4. राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर–अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने बाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।

5. राष्ट्रपति संर्वक्षमा (Amesty) देना चाहे तो उसकी स्वीकृति संसद से लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि संसद देश का सर्वोच्च अंग है, तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा संसद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है। व्यवहार की दृष्टि से यदि लोकसभा को संसद कह दिया जाए, तो अनुचित न होगा।

संसद का ह्रास (Decline of Parliament)

लोगों को भारतीय संसद से आशाएं थी कि यह ''जन–साधारण की एक प्रभुसम्पन्न संस्था'' के रूप में कार्य करेगी। पंडित नेहरू के शब्दों में संसद राष्ट्रीय जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था होगी और यह अन्याय व भ्रष्ट प्रशासन के विरूद्ध ढाल होगी।'' किन्तु लगता है कि नेहरू के अनुयायी इन सब आदर्शो को भूल गये है, अब उनका दृष्टिकोण संकुचित है, सामाजिक विधायन की अब चर्चा नहीं होती, वे लोगों की शिकायतों की उपेक्षा करते हैं, संसद अब सामाजिक कल्याण की संवाहक नहीं है, संस्था निर्माण की गतिशीलता व सामाजिक निरूपण का अभाव दृष्टिगत होता है अब तो संसद अपने निजी या वर्गीय स्वार्थो को साधने की एक मशीन है, अब इसमें गम्भीर चर्चाएं नहीं होती, दिखावटी और फूहड़ आवाजें सुनाई देती है, संसद में शोरगुल अधिक और काम कम होता है, दलबदल एक सामान्य बात है राष्ट्रीय हितों की अवहेलना होती है। संकुचित क्षेत्रीय हित सर्वोपरी हैं और दल के नेताओं का दबदबा निरन्तर बना रहता है। हिरण मुकर्जी जो पच्चीस वर्षो तक संसद के सदस्य रहे लिखते है, ''संसद 600 गधों की बोलती दुकान है।''

संसद की वर्तमान छवि 1950 और 1960 के दिनों के बिल्कुल विपरीत है। उदाहरण के लिए दिनेश सिंह लिखते हैं कि ''उन दिनों संसद में प्रवेश करना पूजा के स्थल में प्रवेश करने जैसा था।'' वहां सम्मान, गरिमा व शालीनता थी। इस की

कार्यवाही से गम्भीर भावनाएं अभिव्यक्त होती थी। विधेयकों पर गम्भीर सारगर्भित चर्चा होती थी, मतभेद उभर कर सामने आते थे, विरोधी दल के सदस्यों की संख्या कम होने पर भी उनकी आवाज को सम्मान से सुना जाता था, संसदीय परम्पराओं का पालन होता था, संसद यह स्वीकार करते थे कि नीतियाँ सरकार बनाती है और सरकार यह समझती थी कि उस पर अन्तिम मोहर तो संसद ही लगाती है इसलिए मुद्दों पर चर्चा होती थी, प्रजा के विचारों का सम्मान किया जाता था और सरकार मानती थी कि विरोधी दलों के सदस्यों को साथ लेकर चलना बहुत आवश्यक है, तभी संसदीय लोकतंत्र सफल माना जायेगा। विरोध का सम्मान करना शासन दल अपना मान समझता है। वर्तमान समय में संसद लगभग निष्क्रिय हो चुकी है। अब यह तर्क का सदन न होकर अविवेकी झगड़ों, घृणा, अवसरवाद तथा स्वार्थ का सदन है। संसद के ह्रास की चरमसीमा तब देखी गई जब जून 1975 में आपातस्थिति की उद्घोषणा का अनुमोदन संसद ने अठतालीस घंटों में बिना विचार किये कर दिया। 1967 से अब तक भिन्न–भिन्न राजनीतिक दलों के सदस्यों ने 1000 से ज्यादा बार दल–बदल किया है, जो धन, पद की लोलुपता या स्वार्थो से प्रेरित होता है, जिससे देश में अनुशासनहीनता तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है।

इस ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए अनुभवी व व्योवृद्ध सांसद इन्द्रजीत गुप्त (जो संयुक्त मोर्चा सरकार में गृहमंत्री थे) कहते हैं कि इन स्थिति के अनेक कारण है पहले तो सदस्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि अर्थात् गुणी व्यक्तियों के स्थान पर संकुचित स्वार्थो वाले क्षेत्रीय नेताओं का संसद में प्रवेश। दूसरे वक्ताओं, सदन के नेता, संसदीय मामलों सम्बन्धी मंत्री, अनेक समूहों व दलों के नेताओं तथा संसद की व्यवस्था से जुड़े सदस्यों के दृष्टिकोण व उपागम में परिवर्तन। अब विधेयकों पर चर्चाओं का उच्च स्तर नहीं रहा। यह दल के सचेतकों व सचिवों की अयोग्यता की ओर संकेत करता है। अक्सर वक्ता भाषण की तैयारी नहीं करते, संयोजन निम्न स्तर का होता है, हाजिरी बहुत कम होती है। अप्रैल 1981 में किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि शासक, विरोधी तथा निर्दलीय सभी के मिलाकर केवल 54 सदस्य ऐसे थे जिन्होंने संसद के अधिवेशनों में नियमित रूप से भाग लिया। आमतौर पर संसद में गणमूर्ति का

अभाव होता हैं या कितनी गम्भीर बात है कि लोकसभा के अधिवेशन में एक मिनट पर 2162 रूपये या एक घंटे में 1.3 लाख रूपये व्यय होते है। यह व्यय केवल (जून 1995 में) लोकसभा सचिवालय की लेखन–सामग्री, सूचना एकत्रित करने तथा विभिन्न विभागों से सूचनाएं प्राप्त करने एवं सचिवालय के रख–रखाव से सम्बन्धित है। इसमें सुरक्षा सदस्यों का निशुल्क आवागमन तथा दैनिक भत्ता सम्मिलित नहीं है। इन बातों को छोड़ भी दिया जाये, तो भी अनेक अन्य गम्भीर घटनाएं है जो संसद को शोभा नहीं देती और सदन की अवमानना होती है। जैसे चुनाव में पराजित हो जाने पर भी सरकारी निवास खाली नहीं करना, संसद बने रहने का मकान को आगे किराये पर उठाना, कोटे में मिलने वाले टेलीफोन गैस इत्यादि ब्लैंक में बेच देना तथा कई अन्य अशोभनीय तरीकों से अपने लिए सुविधाएं जुटाना आदि–आदि।

ब्रिटिश संसद व मंत्रिमण्डल जनमत के प्रति संवेदनशील है। वहाँ जनमत काफी सजग और शक्तिशाली हैं भारत में अभी यह जागृती नहीं है। केवल इस तथ्य से कि भारत के सभी व्यस्क मतदाता है। लोकतंत्र सफल नहीं बन जाता। देश में अशिक्षितों की काफी बड़ी संख्या है जो राजनीतिक पेचीदगियों को नहीं समझते, न ही राजनीतिक दलों की विचारधारा की उन्हें कोई जानकारी है, जिससे वे नेताओं के अर्न्तस्वरूप को नहीं समझ पाते। वह सामान्यतया नेताओं के लुभावने नारों से आकर्षित हो जाते है, स्थानीय नेताओं के बहकावे में आ जाते हैं। लगभग प्रत्येक राजनीतिक दल इस स्थिति का शोषण कर रहा है।

निर्वाचित सदस्यों को विशाल सरकारी सुविधाओं, उनके ऐश्वर्य पूर्ण जीवन, उन्हें उपलब्ध विशेषधिकारों से भारत की संसदीय संस्थाओं का काफी ह्रास हुआ हैं इसका कारण यह भी हो सकता है कि भारत में सामाजिक विन्यास पर पश्चिमी संसदीय पद्धति को जबरदस्ती थोप दिया गया है। संविधान निर्माता सम्भवतः इस तथ्य को भूल गये थे कि लोकतंत्र केवल एक साधन है, उसकी सफलता के लिए विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

समकालीन परिस्थितियों में से निकलने का एक ही रास्ता है कि बुद्धिजीवी वर्ग अपने कर्त्तव्य को पहचाने और एक ऐसी लोकतंत्रीय व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न करें,

जो जिम्मेवार जवाबदेह और संवेदनशील हो। तभी गरीबी का उन्मूलन किया जा सकता है, बिखरते समाज को संगठित किया जा सकता है और उभरती आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है। अगर संसद के सम्मान को पुर्नस्थापित करना है तो इसे आर्थिक–सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में बदलना होगा। यह उत्तरदायित्व समाज का सजग वर्ग ही निभा सकता है। तभी सकारात्मक उपयोगी संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। देश में आन्दोलनों और संघर्षो का संचालित करने का भी परामर्श दिया जाता है, किन्तु उन्हें भी अहिंसात्मक होना चाहिए। कई बार संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर अध्यक्षात्मक प्रणाली अपनाने का भी परामर्श दिया जाता है किन्तु संस्थाओं को बदलना ही पर्याप्त नहीं है। संचालकों के चरित्र को बदलना जरूरी है। ऐसी स्थितियों का निर्माण करना जरूरी जिससे लोकतंत्र को सबल व उपयोगी बनाया जा सके।

3.5.4 निष्कर्ष

निष्कर्षतः ये कहा जा सकता है कि भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित हुए, 70 वर्षों से अधिक वर्ष हो गए है। भारत में संसदीय प्रणाली ने सफलतापूर्वक कार्य किया है तथा लोकतन्त्र मजबूत व परिपक्व हुआ है। किन्तु इसमें कुछ दोष उत्पन्न हो गए है, जिनकी वजह से संसदीय प्रणाली क्षीण हुई है। पिछले 30–35 वर्षों में संसद की स्थिति में बहुत परिवर्तन आया है। इसका मुख्य कारण बहुदलीय प्रणाली की वजह से उत्पन्न जोड़–तोड़ की राजनीति का उभरना है। जब तक इसमें सुधार नहीं होगा, तब तक संसद की स्थिति में सुधार नहीं होगा। संसद की स्थिति में सुधार सांसदों की कार्यशैली पर निर्भर करता है। सांसदों को उत्तरदायी जन–प्रतिनिधि के रूप में अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करना चाहिए। इन्हें कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे संसद की गरिमा को ठेस पहुँचती हो। अतः दोषों को दूर करके संसद की कार्य–प्रणाली को सुधारना होगा।

3.5.5 मुख्य शब्दावली

- सम्प्रभु : जो शक्ति प्रयोग में श्रेष्ठ हो, अर्थात् उससे उच्च कोई अन्य उसे आदेश या निर्देश देने वाला ना हो।

- न्यायिक पुनर्विलोकन : संसद द्वारा बनाए गए कानूनों की न्यायपालिका द्वारा संविधान के अनुरूप वैद्यता की जाँच करना।
- मनोनीत सदस्य : जिन सदस्यों का जनता द्वारा चुनाव न होकर। अन्य किसी विशेष आधार पर नियुक्त किया जाना जैसे राष्ट्रपति राज्यसभा के लिए 12 सदस्यों को मनोनीत कर सकते है।
- विधेयक : कोई कानून बनाने के लिए संसद में लाया गया प्रस्ताव।
- प्रदत्त व्यवस्थापन : संसद के पास समय की कमी के कारण।

वह कानूनों का रूपरेखा को पारित कर देती है और उन कानूनों के अधीन नियम व उपनियम बनाने की शक्ति मन्त्रिमण्डल को मिल जाती है।

3.5.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय संसद की रचना, शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संसद की भूमिका का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए। क्या यह सर्वोच्च या सार्वभौम हैं।
3. भारतीय संसद की शक्तियों पर सीमाओं का वर्णन करें।
4. लोकसभा की रचना, शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए।
5. राज्यसभा के संगठन एवं शक्तियों की संक्षेप में समीक्षा करे।
6. ''राज्यसभा न केवल एक दूसरा सदन, वरन दूसरे दर्जे का सदन है।'' इस कथन के सन्दर्भ में राज्यसभा के पक्ष और विपक्ष में अपने तर्क दें।
7. लोकसभा के स्पीकर की शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
8. लोकसभा के अध्यक्ष की भूमिका तथा स्थिति की समीक्षा करे।
9. भारतीय संसद के पतन के कारणों का वर्णन कीजिए।
10. भारतीय संसद की कार्यप्रणाली के प्रमुख दोषों की विवेचना कीजिए।
11. भारतीय संसद की समिति व्यवस्था पर लेख लिखिए।
12. भारत में संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए।
13. राज्यसभा की विशेष शक्तियों का वर्णन कीजिए।

14. भारतीय संसद के पतन के मुख्य कारण बताइए।

15. राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा व राज्य सभा में कितने–कितने सदस्य मनोनीत करने का अधिकार है ?

3.5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994

- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

ईकाई – 4

प्रान्तीय कार्यपालिका : संरचना एवं प्रक्रिया

4.0 ईकाई परिचय

भारत में संघीय शासन व्यवस्था को अपनाया है। जिसमें शक्तियों का विभाजन केन्द्र व इकाइयों के मध्य किया गया है। संविधान में तीन सूचियों को शामिल किया गया है। संघ सूची, राज्यसूची, समवर्ती सूची। केन्द्र की भांति राज्य स्तर पर भी कार्यपालिका का गठन होता है और राज्य स्तर पर भी नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका का मुखिया अलग–अलग होता है। केन्द्र में राष्ट्रपति की भांति राज्य में राज्यपाल होता है जो राज्य की कार्यपालिका का मुखिया होता है। लेकिन राज्यपाल निर्वाचित नहीं होता बल्कि राष्ट्रपति के द्वारा उसे नियुक्त किया जाता है। मुख्यमन्त्री जनता के द्वारा निर्वाचित होता है तथा वास्तविक कार्यपालिका का मुखिया भी होता है। राष्ट्रपति की भांति राज्यपाल भी मन्त्रिपरिषद् की सहायता और परामर्श के साथ अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है।

संविधान द्वारा राज्य स्तर पर विधानमण्डल का निर्माण राज्यपाल, विधान सभा एवं विधानपरिषद् के द्वारा किया गया है। परन्तु राज्यों में विधान परिषद् का होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में किसी राज्य में विधानमण्डल दो सदनीय या एक सदनीय कोई भी हो सकता है। राज्यों में विधानसभा के सदस्यों की संख्या राज्य की जनसंख्या के अनुसार निर्धारित की जाती है तथा विधान परिषद् की विधानसभा की सदस्य संख्या पर जिन राज्यों में विधान परिषद् की व्यवस्था है वहाँ इसकी सदस्य संख्या विधानसभा के एक तिहाई के बराबर होगी परन्तु वह कम से कम 40 होगी।

4.1 उद्देश्य

- राज्य स्तरीय संवैधानिक संस्थाओं की संरचना जानना
- विभिन्न शासकीय पदों का महत्त्व व उनके कार्यों को जानना

- राज्य स्तरीय कार्यपालिका व विधान पालिका की कार्य प्रणाली जानना
- राज्य स्तरीय सरकार स्वतन्त्र कार्य करती या केन्द्र के अधीन कार्य करती है
- राज्यपाल की शक्तियों व स्थिति को समझना

4.2 राज्यपाल (Governor)

4.2.1 परिचय

संविधान के अनुसार भारत राज्यों का एक संघ है। भारतीय प्रशासन की एक विशेषता यह है कि संघ तथा राज्यों के स्तर पर संसदीय शासन प्रणाली स्थापित की गई है। जिस प्रकार भारतीय संघ की कार्यकारिणी का मुखिया राष्ट्रपति है, उसी प्रकार राज्यों की कार्यकारिणी का अध्यक्ष राज्यपाल है। राष्ट्रपति की भान्ति राज्यपाल भी मन्त्रिपरिषद् की सहायता तथा परामर्श के साथ अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है। संविधान का अनुच्छेद 153 व्यवस्था करता है कि प्रत्येक राज्य का एक राज्यपाल होगा। एक ही व्यक्ति एक से अधिक राज्यों का राज्यपाल भी हो सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति के द्वारा पांच वर्ष के कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है तथा वह राष्ट्रपति की इच्छा तक अपने पद पर बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि राज्यपाल की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए की जाती है परन्तु इसे इस काल से पहले भी हटाया जा सकता है। कार्यकाल की समाप्ति पर उसी राज्य में या अन्य राज्य में दुबारा नियुक्ति पर कोई रोक नहीं है। भारत का कोई भी नागरिक जिसकी आयु 35 वर्ष या इससे अधिक हो और वह अन्य कारणों से अयोग्य न हो किसी भी राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। यहाँ पर स्पष्ट करना उचित होगा कि राष्ट्रपति सदैव मंत्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तव में राज्यपाल की नियुक्ति और उसका हटाया जाना केन्द्रिय मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर होता है। संविधान निर्माण के समय सोचा गया था कि राज्यपाल को राज्य की जनता द्वारा चुना जाये परन्तु बाद में इस विचार को छोड़ दिया गया।

संविधान राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रक्रिया का वर्णन नहीं करता। परन्तु संविधान सभा में यह इच्छा व्यक्त की गई कि सामान्यतः राज्यपाल राज्य का निवासी नहीं होना चाहिए तथा नियुक्ति से पहले केन्द्र को राज्य के मुख्यमन्त्री से

परामर्श कर लेना चाहिए। इस संदर्भ में पहली परम्परा का तो सामान्यतः पालन किया जा रहा है परन्तु दूसरी परम्परा के बारे में विवाद है। विशेषतः 1967 के बाद से मुख्य मंत्रियों की यह शिकायत रही है कि उनसे या तो परामर्श किया ही नहीं जाता या परामर्श के नाम पर उन्हें केवल यह जानकारी दे दी जाती है कि फलां व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करने पर विचार किया जा रहा है। वास्तव में पिछले वर्षों में राज्य की राजनीति में राज्यपालों की भूमिका के विवाद के संदर्भ में राज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न भी विवादित हो गया है। आलोचको का मत है कि केन्द्र में शासित राजनीतिक दल अपने दल गत हितों को सामने रखकर सक्रिय राजनीतिज्ञों को राज्यपाल नियुक्त करते है।

नियुक्ति के संदर्भ में विवाद को सम्मुख रखते हुए केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर विचार करने के लिए नियुक्त सरकारी आयोग ने कुछ सुझाव दिए है। उनके अनुसार राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति सामाजिक जीवन के किसी पहलू में सम्मानित जन होना चाहिए, वह राज्य से बाहर का निवासी हो, स्थानीय तथा राज्य स्तर की राजनीति से उसका गहरा सम्बन्ध न हो और सामान्यरूप से तत्कालीन राजनीति में सक्रिय न हो। नियुक्ति से पहले मुख्यमन्त्री से परामर्श आवश्यक होना चाहिए। सरकारिय आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि सामान्यतः राज्यपाल को पांच वर्ष के कार्यकाल से पहले नहीं हटाया जाना चाहिए। यदि ऐसा अत्यन्त आवश्यक हो तो उसके कारण स्पष्ट किए जाने चाहिए। आयोग के इन सुझावों के बावजूद व्यवहार में राज्यपाल की नियुक्ति तथा पदच्यूति पूर्णतः राजनीतिक आधारों पर ही की जा रही है।

4.2.2 उद्देश्य

- राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में जानना
- राज्यपाल के प्रमुख कार्यो व शक्तियों का मूल्यांकन करना
- राज्यपाल की स्थिति का मूल्यांकन करना
- क्या राज्यपाल राज्य कार्यकारिणी का वास्तविक मुखिया है

- राज्यपाल क्या केन्द्र सरकार का एजेण्ट मात्र है

4.2.3 राज्यपाल की शक्तियाँ (Powers of Governor)

संविधान द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियाँ दी गयी है। राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

कार्यपालिका शक्तियां (Executive Powers)

राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित है जिन्हें वह स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा समपादित करता है। वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की। वह महद्विवक्ता, लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा इसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उससे परामर्श किया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां राज्यसूची में उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के अन्तर्गत वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध में वह नियमों का निर्माण करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यो का वितरण भी करता है। उसे मुख्यमन्त्री से किसी भी प्रकार की सूचना मांगने का अधिकार है। राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णयों से अवगत कराये। वह मुख्यमन्त्री को किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचार के लिए रखने को कह सकता है।

विधायी शक्तियां (Legislative Powers)

राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का एक अविभाज्य अंग होता है। वह व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाता है और स्थगित करता है। वह विधानमण्डल के निम्न सदन को विघटित भी कर सकता है। महानिर्वाचन के बाद विधानमण्डल की पहली बैठक में वह एक या दोनों सदनों को किसी विधेयक के सम्बन्ध में सन्देश भेज सकता है।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर उसकी स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकार कर सकता या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा

सकता है। अगर विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

राज्यपाल आवश्यकता पड़ने पर विधानमण्डल की बैठक के बीच की अवधि में अध्यादेश जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का वही बल तथा प्रभाव होता है जो राज्य के विधान मण्डलों द्वारा पारित अधिनियम का होता है। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक क्रियाशील रहता है। यदि 6 सप्ताह से पहले ही विधानमण्डल उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति में अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जायेगा।

राज्यपाल राज्य विधान परिषद के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष तथा व्यवहारिक ज्ञान हो। अगर वह ऐसा समझे कि विधानसभा में आंग्ल–भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार राज्यपाल को विधायी क्षेत्र में भी व्यापक शक्तियां प्राप्त है।

वित्तीय शक्तियां (Financial Powers)

राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त है। राज्य विधानमण्डल में राज्यपाल की पूर्व–स्वीकृति के बिना कोई भी धन–विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वह विधानमण्डल के समक्ष प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत करवाता है तथा उसकी सिफारिश के बिना कोई भी अनुदान की मांग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदान की भी मांग कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है तथा विधानमण्डल से स्वीकृति की अपेक्षा में वह इस विधि से किसी प्रकार के व्यय की अनुमति दे सकता है।

न्यायिक शक्तियां (Judicial Powers)

संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है उन विषयों सम्बन्धी किसी विधि के विरूद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल सकता है तथा क्षमा भी कर सकता है।

विविध शक्तियां (Miscellaneous Powers)

राज्यपाल को अन्य अनेक शक्तियां भी प्राप्त है –

1. वह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य की आय व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।
2. अगर वह देखता है कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार चलना सम्भव नहीं है तो व राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक यन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में सूचना देता है और उसके प्रतिवेदन पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य के अन्दर राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है।
3. संविधान के द्वारा किन्हीं राज्यों के राज्यपालों को कुछ विशेष कार्यो के संबंध में स्वविवेकीय शक्तियां भी प्रदान की गयी है। नागालैण्ड, सिक्किम, अरूणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम, मेघालय और त्रिपुरा के राज्यपालों को उनके अपने विवेक पर विशिष्ट कार्य कार्यन्वित करने के लिए सौंपे गये है।

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका

(Position or Role of the Governor)

संविधान के अनुसार राज्यपाल की स्थिति राज्य में उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की राष्ट्रपति की संघ सरकार में है। परन्तु दोनों की स्थिति में सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप में भिन्नता पाई जाती है। सैद्धान्तिक तौर पर सभी कार्यकारी शक्तियां राज्यपाल में केन्द्रित है और वह राज्य प्रशासन का स्त्रोत है। उसके नाम पर राज्य का प्रशासन चलाया जाता है। वह मुख्यमन्त्री, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों तथा राज्य के उच्च

अधिकारियों की नियुक्ति करता है। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी कानून बनाया नहीं जा सकता परन्तु राज्य स्तर पर केन्द्र की भांति संसदीय प्रणाली को अपनाए जाने के कारण वास्तव में राज्यपाल स्वयं अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। उसे संवैधानिक शासक होने के नाते साधारणतः मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करना पड़ता हैं। यद्यपि संविधान द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था, परन्तु अब राज्यपाल के लिए मन्त्रिपरिषद के परामर्श को मानना आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन्त्री राज्यपाल के कार्यो के लिए व्यक्तिगत तथा संयुक्त रूप से विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते है इसलिए राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों द्वाराही किया जाता है। वह स्वयं केवल असाधारण परिस्थितियों में ही इसका प्रयोग कर सकता है।

डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में राज्यपाल की शक्तियां तथा स्थिति का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा था कि ''राज्यपाल की शक्तियां इतनी सीमित, नाममात्र होगी तथा उसकी स्थिति इतनी दिखावटी होगी कि वह कोई भी कार्य अपनी इच्छा तथा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर नहीं कर सकेगा।'' संविधान के अनुसार उसके लिए सभी विषयों पर मंत्रिपरिषद का परामर्श स्वीकार करना आवश्यक है। इसका समर्थन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इस प्रकार किया है कि ''राज्यपाल इस संविधान के अन्तर्गत अपने मंत्रियों की सलाह के बिना कोई भी कार्य नहीं कर सकता।'' एच०बी० कॉमथ के अनुसार, ''राज्यपाल एक ओर से मुख्यमन्त्री तथा दूसरी ओर से राष्ट्रपति अथवा वास्तव में प्रधानमन्त्री के हाथ में कठपुतली है।''

परन्तु इन विचारों के होते हुए भी राज्यपाल का पद सर्वथा प्रभावहीन नहीं है। उसे कुछ ऐसी शक्तियां भी प्राप्त है जिनका प्रयोग वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है –

1. यद्यपि साधारणतः राज्यपाल विधानमण्डल में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद के लिए निमन्त्रण देता है और फिर उसकी सलाह से दूसरे मन्त्रियों को नियुक्ति करता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में मुख्यमंत्री का चुनाव वह अपनी इच्छा से भी कर सकता है यदि आम चुनाव के बाद किसी भी दल को

विधानसभा में बहुमत प्राप्त न हो या जब बहुमत दल में फूट पड़ जाने के कारण किसी भी दल को प्रत्यक्ष बहुमत दल को प्रत्यक्ष बहुमत का समर्थन न रहे या जब मुख्यमन्त्री अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाने के कारण स्वयं त्यागपत्र दे दें, तो राज्यपाल ऐसी दशा में अपनी इच्छा से किसी भी व्यक्ति को, जिसे वह विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने के योग्य समझे, मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है।

2. किसी राज्य में संवैधानिक सरकार के विफल हो जाने के समय राज्यपाल वास्तविक शासक के रूप में कार्य करता हैं। वह निर्णय करता है कि राज्य सरकार संविधान की धाराओं के अनुसार कार्य कर रही है कि नहीं और ऐसी स्थिति के बारे में वह राष्ट्रपति को सूचित करता है। राज्यपाल के इस अधिकार का होना इसलिए आवश्यक है कि कोई भी मुख्यमन्त्री अपने मन्त्रिपरिषद के विघटन के लिए राज्यपाल को सुझाव नहीं देगा तथा यह राज्यपाल को स्वयं निर्णय करना पड़ता है। राज्यपाल की सिफारिश के बाद यदि राष्ट्रपति संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत किसी राज्य में संकटकाल की घोषणा कर दे तो राज्यपाल केन्द्रिय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में वास्तविक कार्यपालिका की भांति कार्य कर सकता है। राज्य विधानसभा में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त न होने पर या मुख्यमन्त्री के परामर्श अनुसार विधानसभा विघटित करने का निर्णय भी वह स्वयं करता है। ऐसी स्थिति में मुख्यमन्त्री को स्वीकार करना या न करना राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर है।

3. राज्यपाल विधानमण्डल द्वारा पास किए गए किसी भी बिल को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है। उसकी इस शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती।

4. वह मुख्यमन्त्री से किसी भी विषय पर सूचना प्राप्त कर सकता है और उसे किसी भी विषय पर जिस पर एक मंत्री ने निर्णय किया हो, समस्त मन्त्रिपरिषद द्वारा विचार करने के लिए कह सकता है। ऐसी दशा में मुख्यमन्त्री को

राज्यपाल द्वारा पूछे गए विषय पर सूचना अवश्य देनी पड़ती है तथा एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय पर समस्त मन्त्रिपरिषद को निर्णय लेना पड़ता है।

5. संविधान के संशोधन अनुसार पंजाब तथा आंध्रप्रदेश के राज्यपालों को प्रादेशिक समितियों तथा राज्य विधानमण्डलों में किसी विषय पर मतभेद हो जाने पर निर्णय करने का विशेष अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार संविधान की धारा 371 (2) के अनुसार मुंबई तथा गुजरात के राज्यपालों के राज्यों के विशेष प्रदेशों के विकास के लिए व्यय करने का अधिकार दिया गया है। नागालैंड के राज्यपाल को वित्त एवं कानून तथा शक्ति की व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिए गए हैं।

6. राज्यपाल को राज्य के अल्पसंख्यक लोगों के अधिकारों के संरक्षक के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है।

कुछ लोग राज्यपाल के सविवेक अधिकारों (Discretionary Powers) की आलोचना करते है। उनका कहना है कि यदि केन्द्र तथा राज्यों में भिन्न–भिन्न दलों की सरकारें हो तो केन्द्रिय सरकार राज्यपाल को राज्य में विरोधी दल की सरकार का दमन करने के लिए प्रयोग कर सकती है। लेकिन देश की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर काबू पाने तथा देश को संगठित रखने के लिए इन अधिकारों का होना अति आवश्यक है।

श्री पायली के शब्दों में, ''यद्यपि ये साधारण परिस्थितियां नहीं है फिर भी ऐसे देश में जहां लोकतन्त्रीय संस्थाएं अभी विकास की अवस्था में है और जहां प्रादेशिक, भाषायी और दूसरे विकेन्द्रीकरण के तत्वों का अन्य भागों पर विशेष प्रभाव है वहां ऐसी सम्भावनाओं का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति का अनुभव केवल राज्यपाल ही कर सकता है और वह ही यथायोग्य कार्यवाही, जिसमें मन्त्रिपरिषद को भंग किया जाना भी शामिल है कर सकता है।''

इसका अर्थ यह नहीं हैं कि राज्यपाल केन्द्र में सत्ताधारी दल के हाथ में कठपुतली बन जाए। जहां उसे राष्ट्रीय अखण्डता को स्थापित करने और विकेन्द्रिकरण के तत्वों का दमन करने के लिए केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना चाहिए, वहां

उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह राज्य के मुख्य कार्यपालिका के रूप में अपनी शक्तियों का प्रयोग किसी राजनैतिक प्रभाव से ऊपर उठकर करे। विशेषकर जब राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में काम करते हुए भी राज्य के हितों को प्राथमिकता देनी चाहिए। ऐसी स्थिति में उसकी सहायता के लिए परामर्शदाताओं (Advisers) की नियुक्ति की जाती है और वह उनकी सहायता से राज्य के शासन का संचालन करता है।

राज्यपाल की स्थिति का एक और भी पहलू है। वह राज्य का केवल संवैधानिक मुख्य कार्यपालिका ही नहीं, राज्य में केन्द्र का प्रतिनिधि (Agent) भी है। संविधान द्वारा कई परिस्थितियों में राज्यपाल को केन्द्र की और से निर्देश देने की व्यवस्था की गई है। संविधान की धाराओं के अनुसार केन्द्रिय सरकार राज्य सरकार को अपनी कार्यकारी शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में निर्देशन दे सकती है और इन निर्देशनों को कार्यन्वित करवाने का उत्तरदायित्व राज्यपाल पर होता है। साधारणतः केन्द्र सरकार के निर्देशों को राज्य सरकार द्वारा मान्यता दी जाती है, परन्तु कभी ऐसा भी संभव हो सकता है कि राज्य सरकार इन निर्देशनों का पालन न करना चाहे विशेषकर जब केन्द्र तथा राज्यों में भिन्न–भिन्न राजनैतिक दलों की सरकार हो, तब समस्या और भी गंभीर हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल की स्थिति बड़ी सोचनीय हो जाती है, क्योंकि एक और राज्य में संवैधानिक सरकार की व्यवस्था होने के कारण राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के परामर्श अनुसार कार्य करना पड़ता है तथा दूसरी ओर उसे केन्द्र के प्रतिनिधि के उत्तरदायित्व को भी निभाना पड़ता है। ऐसी दशा में जब राज्य सरकार केन्द्र के निर्देश को न माने तो राज्यपाल केन्द्रिय निर्देश को लागू करने के लिए अपनी विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है और यदि वह ऐसा न करे तो केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को उसे पदच्युत करने का परामर्श दे सकता है। राज्यपाल को इस प्रकार संकटमय स्थिति का सामना करना पड़ता है और केन्द्र द्वारा राज्यपाल की स्थिति का शोषण किया जा सकता है। विशेषकर जब केन्द्र में सत्ताधारी दल राज्यों में विरोधी दलों के मन्त्रिमण्डलों का विघटन करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से राज्यपाल का प्रयोग करना चाहे, तो उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति से

यद्यपि राज्यपाल को केन्द्र के आदेश अनुसार चलना पड़ता है फिर भी अपनी विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग बड़े सावधान होकर करना चाहिए और केन्द्र का प्रतिनिधि होते हुए भी राज्य सरकार के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे केन्द्र तथा राज्य सरकारों में गतिरोध को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

4.2.4 निष्कर्ष

उपरोक्त विचार–विमर्श से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि संविधान के निर्माता राज्यपाल को संसदीय प्रणाली के अनुसार संवैधानिक मुखिया की परिस्थिति प्रदान करना चाहते थे, परन्तु फिर भी उसे विशेष परिस्थितियों में वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल की स्थिति पर इस पद पर नियुक्त किए गए व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी विशेष प्रभाव होता है। जैसे कुछ राज्यपाल केवल संवैधानिक स्थिति से ही सन्तुष्ट होते है परन्तु श्री एन०वी० गाडगिल, श्री धर्मवीर तथा श्री वी०एन० चक्रवर्ती जैसे राज्यपालों ने इस पद को विशेष महत्व प्रदान किया है जिससे राज्यपाल की स्थिति को संवैधानिक मुखिया की अपेक्षा वास्तविक कार्यपालिका होने में प्रोत्साहन मिला है। इसके इलावा राष्ट्रपति को राज्य विधानमण्डल महाभियोग द्वारा हटा नहीं सकता। उसे केवल राष्ट्रपति ही पद से हटा सकता है तथा वह केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है। इससे राज्यपाल की स्थिति को विशेष बल मिला है तथा वह केन्द्रिय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि राज्य की स्थिति संवैधानिक मुखिया तथा वास्तविक प्रशासक दोनों की है। वह एक ही समय में राज्य का मुख्य कार्यपालिका भी है तथा संघीय सरकार का प्रतिनिधि भी है।

4.2.5 मुख्य शब्दावली

- नाममात्र का मुखिया : जो वास्तव में अपनी शक्तियों का प्रयोग न करता है बल्कि उसके नाम पर कोई अन्य उन शक्तियों का प्रयोग करता हो।

- अधिवेशन : विधानमण्डल की बैठकें
- स्थगित करना : विधानमण्डल की बैठकों का समापन
- प्रतिवेदन : रिर्पोट
- अविश्वास प्रस्ताव : जब मुख्यमन्त्री या प्रधानमन्त्री के पक्ष में अपेक्षित सदस्यों का समर्थन ना हो और लोकसभा या विधानसभा में बहुमत साबित ना कर पाए उसे अविश्वास प्रस्ताव कहते है।

4.2.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राज्यपाल की नियुक्ति, शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन करेा।
2. राज्य की राजनीतिक प्रणाली में राज्यपल की भूमिका की व्याख्या करें।
3. राज्यपाल की नियुक्ति, शक्तियों, कार्यो तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति कैसे की जाती है ? राज्यपाल की परिवर्तित होती भूमिका का वर्णन करें।
5. राज्य प्रशासन में राज्यपाल की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण करें। क्या राज्यपाल एक केन्द्रिय एजेण्ट हैं ? तर्क दीजिए।
6. राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिए।
7. राज्यपाल की स्व–विवेकी शक्तियों का वर्णन कीजिए।
8. वर्तमान में परिवर्तित भूमिका पर नोट लिखिए।
9. राज्यपाल की नियुक्ति की आयु सीमा क्या है।
10. राज्यपाल को पद से हटाने का अधिकार किसको है।

4.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966

- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998

- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

4.3 मुख्यमंत्री (Chief Minister)

4.3.1 परिचय

राज्य में मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। संविधान के अनुसार भारत के राज्य के शासन के लिए संसदीय ढांचे की व्यवस्था की गयी है। यह ढांचा केन्द्रीय सरकार के अनुरूप ही हैं। जिस भांति केन्द्र में राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष बनाना गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान उसी भांति राज्य में राज्यपाल को संवैधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्तविक प्रधान वस्तुतः राज्य में राज्यपाल उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद की सहायता से शासन चलाता है। जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री है।

4.3.2 उद्देश्य

- मुख्यमन्त्री की नियुक्ति कैसे की जाती है
- राज्य प्रशासन में मुख्यमन्त्री की भूमिका का मूल्यांकन करना
- गठबन्धन सरकार में मुख्यमन्त्री की स्थिति जानना
- मुख्यमन्त्री क्या राज्य का वास्तविक अध्यक्ष है
- राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के सम्बन्धों का जानना

4.3.3 मुख्यमंत्रि की नियुक्ति

संविधान द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति का अधिकार राज्यपाल को दिया गया है, परन्तु राज्यपाल जिस व्यक्ति को चाहे मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं कर सकता। व्यवहार में राज्यपाल द्वारा उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। जिसे विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। यदि विधानसभा में किसी राजनैतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, तो उस अवस्था में राज्यपाल काफी हद तक अपनी इच्छानुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति कर सकता है। उस स्थिति में वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त कर सकता है जो उसके विचार में स्थायी

सरकार की स्थापना करने के योग्य है। मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य विधानमंडल के किसी न किसी सदन का सदस्य हो परन्तु कई बार ऐसे व्यक्तियों को भी मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है जो राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते ऐसे व्यक्ति को 6 महीने के अन्दर राज्य विधानमंडल का सदस्य बनना पड़ता है। अन्यथा वे इस पद पर नहीं रह सकते। साधारणतः मुख्यमंत्री की अवधि पांच वर्ष होती है, परन्तु विधानसभा में जब बहुमत उसके पक्ष में न रहे या विधान सभा उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे अपना त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह या तो स्वयं त्यागपत्र दे सकता है या राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श दे सकता है। इस स्थिति के बारे में लेखकों में मतभेद हैं कुछ लेखकों के अनुसार राज्य का संवैधानिक मुखिया होने के नाते, राज्यपाल को मुख्यमंत्री से परामर्श करना चाहिए और विधानसभा को भंग कर देना चाहिए। इसके विपरीत कुछ लोगों का मत है कि राज्यपाल को यह स्वीकार नहीं करना चाहिए और विधानसभा को भंग करने से पहले अन्य व्यक्ति को जिसे विधानसभा में बहुमत प्राप्त होने की संभावना हो, मंत्रिपरिषद बनाने का अवसर देना चाहिए।

मुख्यमंत्री की शक्तियां तथा कार्य (Powers and Functions of Chief Minister)

मुख्यमंत्री को राज्य के शासन में लगभग वही अधिकार व स्थिति प्राप्त है, जो प्रधानमंत्री को संघीय शासन में प्राप्त है। मुख्यमंत्री को निम्नलिखित शक्तियाँ व कार्य प्राप्त हैं।

मंत्रिपरिषद् का निर्माण (Formation of Council of Ministers)

अपने पद को ग्रहण करने के बाद मुख्यमंत्री का सबसे पहला कार्य अपने मंत्रिपरिषद का निर्माण करना है। मुख्यमंत्री ही अपने मंत्रियों की सूची तैयार करता हैं जिन्हें राज्यपाल के द्वारा औपचारिक रूप से नियुक्त किया जाता है। राज्यपाल उस सूची में दिए गए किसी भी व्यक्ति को मंत्री के रूप में नियुक्त करने से इन्कार नहीं कर सकता। मुख्यमंत्री ही मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या को निश्चित करता है। मुख्यमन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है जो राज्य

विधानमण्डल का सदस्य नहीं है, परन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए 6 महीने के अन्दर राज्य विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक होता है यदि ऐसा वह नहीं करता तो उसके बाद वह मंत्री के पद पर नहीं रह सकता।

मंत्रियों को पद से हटाना (Removal of Ministers)

संविधान के अनुसार मंत्री राज्यपाल की इच्छा पर्यन्त पद पर रहते हैं, परन्तु व्यवहार में वह उतने समय तक पद पर रहते है जब तक वह मुख्यमंत्री के विश्वास के पात्र रहते हैं। मुख्यमंत्री तथा किसी अन्य मंत्री के बीच मतभेद होने पर मंत्री को अपना त्यागपत्र देना पड़ता है। यदि कोई मंत्री मुख्यमंत्री की नीति से सहमत नहीं है तथा उसके साथ मिलकर चलने के लिए तैयार नहीं है, तो मुख्यमंत्री उसे त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है। यदि वह मंत्री अपना त्यागपत्र देने से इन्कार करता है तो मुख्यमंत्री राज्यपाल से कहकर उसको पद से हटवा सकता है।

विभागों का बंटवारा (Distributions of Portfolios)

मुख्यमंत्री ही मत्रिपरिषद के सदस्यों में विभागों का बंटवारा करता है। इस काम में कई बार मुख्यमंत्री को कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि एक ही समय में कई मंत्री एक ही विभाग को लेना चाहते है। यद्यपि अंतिम रूप में होता वही है, जिसे मुख्यमंत्री चाहता है। परन्तु ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री को बड़ी समझदारी से काम लेना पड़ता है कि कहीं उसके दल में फूट न पड़े। मुख्यमंत्री को, जब भी वह चाहे, मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन करने का भी अधिकार है। यदि कोई मंत्री उससे सहमत नहीं होता, तो मुख्यमंत्री उसका त्यागपत्र मांग सकता है।

मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना

(To preside over the Meelings of the Cabinet)

मुख्यमंत्री को ही मंत्रिमण्डल की बैठकें बुलाने, उनका कार्यक्रम तैयार करने तथा उनकी बैठकों की अध्यक्षता करने का अधिकार है। मंत्रिमण्डल की बैठकों में निर्णय भी प्रायः उसी की इच्छानुसार होता है। जनता तथा विधानसभा के सामने इन निर्णयों की घोषणा मुख्यमंत्री ही करता है।

राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद के बीच कड़ी
(Link between the Governor and The Council of Ministers)

मुख्यमंत्री राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद के बीच कड़ी का काम करता है। मुख्यमंत्री ही राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल में निर्णयों के बारे में सूचना देता है। राज्यपाल को स्वयं भी यदि प्रशासन के बारे में किसी प्रकार की सूचना चाहिए, तो वह उसे मुख्यमंत्री से ही प्राप्त करता है। कोई अन्य मंत्री बिना मुख्यमंत्री की स्वीकृति के राज्यपाल को किसी प्रकार की सूचना नहीं दे सकता।

राज्यपाल का मुख्य सलाहकार (Chief Adviser of the Governor)

मुख्यमंत्री राज्यपाल का मुख्य सलाहकार है। राज्यपाल केवल उस परिस्थिति को छोड़कर जब वह केन्द्रिय सरकार के निर्देशानुसार कार्य कर रहा है, साधारणतया मुख्यमंत्री द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार ही काम करता है।

शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना
(Coordination among the various Department)

राज्य सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल स्थापित करना भी मुख्यमंत्री का काम है। वह शासन के विभिन्न भागों की देखभाल करता रहता है तथा इस बात का ध्यान रखता है कि किसी एक विभाग की नीति का दूसरे विभागों पर बुरा प्रभाव न पड़े।

राज्य विधानमण्डल का नेता (Leader of State Legislature)

मुख्यमंत्री राज्य विधानमण्डल का नेता होता है। वह सदन में अध्यक्ष के साथ मिलकर सदन का कार्यक्रम तैयार करता है। वह विधानमण्डल में सरकार की सभी महत्वपूर्ण नीतियों की घोषणा करता है और सदन में मंत्रियों के द्वारा जितने बिल पेश किए जाते हैं उनको पास करवाने का प्रयत्न करता है। विधानमण्डल में बहुमत के समर्थन के कारण वह जो भी बिल पास करवाना चाहे, करवा सकता है। वास्तव में विधानमण्डल में उसकी मर्जी के बिना कुछ नहीं हो सकता। वह राज्यपाल से कहकर

विधानसभा को उसका निश्चित कार्यकाल समाप्त होने से पहले भंग करवा सकता है तथा नये चुनाव करवा सकता है।

नियुक्तियाँ (Apointments)

राज्य प्रशासन के अन्तर्गत होने वाली सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियां – राज्य का महाधिवक्ता (Attorney General) राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य (Members of State Public Service Commission) आदि राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार ही नियुक्ति करता है।

जनता का नेता (Leader of the People)

जिस प्रकार प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता है, उसी प्रकार मुख्यमंत्री अपने राज्य में जनता का नेता है। वह राज्य में होने वाले महत्वपूर्ण सार्वजनिक समारोहों का नेतृत्व करता है।

मुख्यमंत्री की स्थिति (Position of the Chief Minister)

मुख्यमंत्री की शक्तियों व कार्यो को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसको राज्य के प्रशासन में बहुत महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। वह मंत्रिपरिषद का निर्माण करता है तथा अपनी इच्छानुसार जिस मंत्री को चाहे, पद से हटा सकता है। वह राज्यपाल का मुख्य सलाहकार है। वह राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के बीच कड़ी का काम करता है। मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने का अर्थ समस्त मंत्रिपरिषद् का त्यागपत्र होता है। वह राज्य विधानमण्डल का भी नेता है तथा विधानसभा को जब चाहें भंग करवा सकता है। परन्तु इतना होते हुए भी उसकी वास्तविक स्थिति काफी हद तक परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। राज्य विधानसभा में यदि उसके दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तो उसकी स्थिति दृढ़ होती है क्योंकि वह कोई भी बिल पास करवा सकता है। इसके विपरीत यदि उसने अन्य दलों के साथ मिलकर अर्थात् संयुक्त मोर्चा बनाकर एवं मिली–जुली सरकार (Coalition Government) की स्थापना की है, तो उसकी स्थिति कमजोर होगी और उसे अन्य मंत्रियों (विशेष रूप से अनय दलों में मंत्रियों) को भी साथ लेकर चलना पड़ेगा। उसकी स्थिति उसके अपने दल के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले सहयोग पर भी निर्भर करती है। मुख्यमंत्री की स्थिति उसके दल

के हाई कमांड (High Command) तथा प्रधानमंत्री के समर्थन पर भी निर्भर करती है। अन्त में मुख्यमंत्री की स्थिति उसके अपने व्यक्तित्व तथा उस राज्य के राज्यपाल के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करती है। यदि राज्यपाल का व्यक्तित्व कमजोर है तो मुख्यमंत्री की स्थिति अधिक मजबूत होगी। परन्तु यदि राज्यपाल महान व्यक्तित्व का स्वामी है, तो वह मुख्यमंत्री पर अपना प्रभाव डाल सकता है और कई परिस्थितियों में उसे कठिनाई में डाल सकता है। इस प्रकार यद्यपि मुख्यमंत्री को महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं, परन्तु वास्तविक स्थिति मुख्यतः राज्य के विरोधी दल, राज्य विधानमण्डल, राज्यपाल तथा उसके दल के हाई कमांड आदि से सम्बन्धों परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है तथा इस स्थिति में परिस्थितियों और उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

4.3.4 निष्कर्ष

मुख्यमंत्री की शक्तियों और स्थिति को जानने के बाद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्य के प्रशासन में मुख्यमंत्री का बहुत ही प्रभावशाली स्थान है। मुख्यमंत्री की स्थिति पर्याप्त सीमा तक उस व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है, जो व्यक्ति इस पद पर सुशोभित होता है। एक बुद्धिमान और गुणवान् व्यक्ति इस पद के गौरव को चार चाँद लगा देता है, परन्तु एक निर्बल और गुणहीन राजनीतिज्ञ इस पद के गौरव के पतन के लिए उत्तरदायी बनता है।

4.3.5 मुख्य शब्दावली

- कोई नहीं

4.3.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति, शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन करें।
2. एक राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति कैसे होती है ? मुख्यमंत्री की शक्ति व स्थिति का वर्णन करो।
3. राज्य की राजनीति में मुख्यमंत्री की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. भारत में राज्यों में मुख्यमंत्री की भूमिका एवं कार्यो की विवेचना कीजिए।

5. भारतीय राज्यों में नाममात्र मुखिया और वास्तविक मुखिया का वर्णन करें। वास्तविक कार्यपालिका की शक्तियों और स्थिति का वर्णन करें।
6. मुख्यमंत्री की नियुक्ति कौन और कैसे करता है ?
7. मुख्यमंत्री की मन्त्रिमण्डल के गठन सम्बन्धी शक्तियाँ बताए ?
8. राज्यपाल के प्रमुख सलाहकार के रूप में मुख्यमंत्री की भूमिका बताए ?
9. मुख्यमंत्री पद के लिए आयु सीमा क्या है ?
10. राज्यपाल किस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है ?

4.3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999

- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

4.4 राज्य–स्तर पर मन्त्री–परिषद (Council of Minister at State Level)

4.4.1 परिचय

भारत में संघीय सरकार की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इसलिए राज्यों में भी एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गई है। संविधान की धारा 163 के अन्तर्गत, राज्यपाल को उन कार्यो को छोड़कर जो उसे अपनी इच्छा से करने होते हैं, शेष को पूरा करने में सहायता तथा सलाह देने के लिए एक मन्त्रि–परिषद होगी जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होगा। राज्यपाल के कुछ अधिकारों को छोड़कर शेष सभी अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि–परिषद के द्वारा ही किया जाता है। वस्तुतः केन्द्र की भांति राज्यों में शासन वास्तविक रूप में मन्त्रिपरिषद द्वारा ही चलाया जाता है।

राज्यपाल आम चुनाव के बाद राज्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है और फिर उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता है। मन्त्रि–परिषद के सभी सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों में से किसी भी सदन के सदस्य अवश्य हो। यदि किसी व्यक्ति को जो विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य न हो, मन्त्री नियुक्त किया जाए तो उसे 6 महीने के अन्दर–अन्दर विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य अवश्य बनना पड़ता है। यदि वह इस काल में किसी भी सदन का सदस्य नहीं बन सकता तो उसे मंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वास्तव में एक औपचारिकता है। राज्यपाल को विधानसभा में जिस दल का बहुमत है तथा उस दल का जो नेता है, उसे अवश्य कहीं मुख्यमंत्री नियुक्त करना पड़ता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करना पड़ता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह से ही की जाती है। राज्यपाल ऐसे किसी भी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त नहीं कर सकता जिसे मुख्यमंत्री नहीं चाहता है। वास्तव में मंत्रिपरिषद के

कार्यकाल का कहीं भी वर्णन नहीं किया गया है, लेकिन उसका कार्यकाल राज्य की विधानसभा के बराबर होता है। अगर विधानसभा भंग हो जाए या उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाए, ऐसी स्थिति में विधानसभा के साथ ही मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल भी समाप्त हो जाता है।

4.4.2 उद्देश्य

- राज्य स्तर पर मन्त्रिपरिषद् का गठन कैसे किया जाता है
- राज्य मन्त्रिपरिषद् के कार्यो व शक्तियों का मूल्यांकन
- मन्त्रिपरिषद् और विधानमण्डल के बीच सम्बन्धों का मूल्यांकन
- मन्त्रिमण्डल व मुख्यमंत्री के बीच सम्बन्धों का मूल्यांकन
- नीति निर्माण में मन्त्रिपरिषद् की भूमिका का जानना

4.4.3 राज्य मंत्रिमण्डल की विशेषताएँ

राज्य मंत्रिमण्डल की वही विशेषताएँ है जो केन्द्रिय मंत्रिमण्डल की है –

राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग नहीं लेते

(Governour does not attend the metting of Cabinet)

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक मुखिया है, सरकार का अध्यक्ष नहीं। वह व्यवहारिक राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखता। वह दलगत भावना से ऊपर रहकर कार्य करता हैं। वह अपनी जिम्मेदारियों को राजनीति में तटस्थ रहकर पूरा करता है। यदि वह मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेना शुरू कर दे तो वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों के लिए उसी प्रकार जिम्मेदार होगा जिस प्रकार अन्य मंत्री होते हैं परन्तु यह व्यवस्था उसकी संवैधानिक स्थिति के अनुकूल नहीं होगी।

मन्त्रिमण्डल का विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व

(Responsibility of Cabinet towards Legistative)

मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने सभी कार्यों, निर्णयों और नीतियों के लिए राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते है। वह तब तक अपने पद पर रहते है जब तक

उन्हें राज्य विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहे। यह जिम्मेदारी सामूहिक भी होती है और व्यक्तिगत भी।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)

इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों और निश्चित की गई नीतियों के लिए समस्त मन्त्रि–परिषद सामूहिक रूप से राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के कारण राज्य विधानसभा में किसी एक मन्त्री के विरूद्ध निन्दा प्रस्ताव पास किया जाता है तो समस्त मन्त्रि–परिषद् अपने पद से त्यागपत्र दे देती हैं। मन्त्रि–परिषद के सदस्य एक टीम की तरह कार्य करते हैं। उनकी हार–जीत साँझी होती है। वे इक्ट्ठे तैरते है और इक्ट्ठे डूबते हैं।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व (Individual Responsibility)

मन्त्रियों की जिम्मेदारी व्यक्तिगत भी होती है। यदि कोई मन्त्री अपने विभाग के सम्बन्ध में वैयाक्तिक रूप से निर्णय लेता है तथा उस पर मन्त्रिमण्डल में विचार न किया गया हो तो उस निर्णय के लिए उस मन्त्री की व्यक्तिगत जिम्मेदारी होती है। यदि वह निर्णय बाद में गलत सिद्ध हो और उसके कारण उस मन्त्री के विरूद्ध राज्य विधानसभा में निन्दा प्रस्ताव या अविश्वास प्रस्ताव पास किया जाए तो उस स्थिति में वह अकेला मन्त्री ही त्यागपत्र देता है, समस्त परिषद् त्यागपत्र नहीं देती।

मुख्यमंत्री का नेतृत्व (Leadership of Chief Ministers)

मुख्यमंत्री राज्य का नेता होता है। उसकी मंत्रिमण्डल में प्रमुख स्थिति होती है। वह मन्त्रियों को चुनता हैं, उनमें विभागों को बांटता है, उनके कार्यो में समन्वय उत्पन्न करता है तथा उनके कार्यो की निगरानी करता है। वह मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता है, उनकी अध्यक्षता करता है तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में राज्यपाल को सूचित करता है। यदि मुख्यमंत्री अपना त्यागपत्र दे दे तो वह समस्त मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है।

गोपनीयता (Secrecy)

गोपनीयता मन्त्रिमण्डल प्रणाली का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही को गुप्त रखा जाता है। आपसी मतभेदों को राज्य विधानमण्डल व जनता के सामने प्रकट नहीं किया जाता। मंत्रियों को अपना पद धारण करने से पहले राज्यपाल के सामने गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है।

मन्त्रिपरिषद की शक्तियाँ एवं कार्य
(Powers and Functions of the Council of Ministers)

मन्त्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य निम्नलिखित हैं –

नीति का निर्धारण (Determination of Policy)

मन्त्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण काम यह है कि राज्य की प्रशासकीय नीति का निर्धारण करें। इस काम को करते समय मन्त्रिपरिषद् अपने दल अथवा अन्य दलों के राजनैतिक सिद्धान्तों का पूरा–पूरा ध्यान रखती है। इस प्रकार निर्धारित नीति को फिर विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है और मन्त्रिपरिषद् को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण उस नीति को वहाँ स्वीकार भी करवा लिया जाता है।

शासन चलाना (Administrative Functions)

मन्त्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य एक या एक से अधिक विभाग का अध्यक्ष होता है। वह अपने विभाग का शासन मन्त्रिपरिषद् के द्वारा निश्चित की गई नीतियों के अनुसार चलता है। विभाग का अध्यक्ष होने के नाते वह विधानमण्डल के दोनों सदनों में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देता है तथा जनता को भाषण द्वारा अपने विभाग की नीति व कार्यो से अवगत कराता है प्रत्येक मंत्री अपने विभाग या कार्य ठीक प्रकार चलाने के लिए अपने अधीन सरकारी पदाधिकारियों के कार्यो का निरीक्षण करता है। प्रशासन चलाने के लिए मन्त्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है।

विभागों में तालमेल स्थापित करना
(Coordination among different Departments)

शासन की सरलता के लिए सम्पूर्ण शासन कई विभागों में विभक्त होता है और प्रत्येक विभाग का अलग–अलग मन्त्री होता है। यद्यपि शासन मन्त्रिपरिषद् द्वारा

निश्चित नीतियों के अनुसार चलाया जाता है। परन्तु फिर भी भिन्न–भिन्न विभागों में अधिकार क्षेत्र के लिए विवाद पैदा हो जाना स्वाभाविक है। मन्त्रिपरिषद् विवादों को समाप्त करके भिन्न–भिन्न विभागों में सहयोग पैदा करता है ताकि शासन में कार्य कुशलता बनी रहे। इसके इलावा मन्त्रिपरिषद् यह भी देखता है कि शासन नीतियों के अनुसार चल रहा हैं या नहीं।

नियुक्तियाँ (Appointments)

राज्य की सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की सलाह से ही करता हैं। इन नियुक्तियों में एडवोकेट जनरल राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य इत्यादि शामिल है।

वैधानिक कार्य (Legistative Function)

कानून–निर्माण में मन्त्रिपरिषद् की प्रमुख भूमिका है। मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य विधानमण्डल के सदस्य होते है। सभी महत्वपूर्ण बिल विधानमण्डल में मन्त्रियों द्वारा ही पेश किए जाते है। मन्त्रिपरिषद् का विधानमण्डल में बहुमत होता है। इसीलिए मंत्रियों के द्वारा पेश किए गए सभी बिल पारित हो जाते है। मन्त्रिपरिषद की इच्छा के विपरीत कोई भी बिल कानून का रूप धारण नहीं कर सकता। मन्त्रिपरिषद् ही यह निश्चित करती है कि विधानमण्डल का अधिवेशन कब बुलाया जाए तथा कब समाप्त किया जाए। राज्यपाल का विधानमण्डल में दिया जाने वाला भाषण भी मन्त्रिपरिषद् द्वारा तैयार किया जाता है। जब राज्य विधानमण्डल का अधिवेशन नहीं हो रहा होता है, तब मन्त्रिपरिषद् राज्यपाल को सलाह देकर अध्यादेश जारी करवाता है।

वित्तीय कार्य (Financial Functions)

राज्य की वित्त व्यवस्था पर मन्त्रिपरिषद् का ही नियन्त्रण होता है। वह बजट तैयार करता है तथा विधानसभा से पास करवाता है। बजट की तैयारी और इसे पास करवाने में मन्त्रिपरिषद का बहुत बड़ा हाथ होता है। यदि बजट विधानसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया जाए तो सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् को त्याग पत्र देना पड़ता है। बजट पास होने के बाद मन्त्रिपरिषद् ही निश्चित की हुई रकम के अनुसार खर्चा करता है तथा वह उसके लिए उत्तरदायी भी है।

मन्त्रिपरिषद् के द्वारा किए गए उपर्युक्त कार्यो से स्पष्ट है कि यह वह संस्था है जो राज्य का शासन चलाती है। राज्यों की नीतियों को निश्चित करने से लेकर, शासन चलाना, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना, कानून बनवाना, बजट तैयार करना और उसे पास करवाना आदि में मन्त्रिपरिषद् का ही प्रभुत्व रहता हैं। इसलिए मंत्रिपरिषद् को राज्य की वास्तविक शासन चलाने वाली संस्था कहा जा सकता है।

4.4.4 निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण को जानने पर ये कहा जा सकता है कि राज्य मन्त्रिपरिषद् का अपना महत्व है। यह राज्य सूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने के सम्बन्ध में नीतिगत फैसले लेती है। वित्तीय मामलों पर बजट बनाने पर नियन्त्रण रखती है तथा विधानमण्डल के प्रति इसका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है।

4.4.5 मुख्य शब्दावली

- राज्य सूची : संविधान में सभी विषयों को तीन सूचियों में बांटा गया है : (1) संघ सूची, (2) राज्य सूची एवं (3) समवर्ती सूची। राज्य सूची में दिए गए विषयों पर राज्य विधानमण्डल कानून बनाता है।
- मन्त्रिपरिषद् : मन्त्रियों का बड़ा समूह जिसमें सभी स्तरों के मन्त्रि शामिल होते है।
- मन्त्रिमण्डल : मन्त्रियों का छोटा समूह जिसमें केवल मुख्य विभागों के अध्यक्ष यानी मन्त्रि होते है वास्तव में ये ही सभी शक्तियों का प्रयोग करते है।

4.4.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राज्य मन्त्रिपरिषद् का निर्माण, कार्यो तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए। इस पर राज्य का विधानमण्डल कैसे नियन्त्रण करता है ?
2. मन्त्रिपरिषद् का गठन कैसे किया जाता है ? इसकी शक्तियों एवं राज्यपाल के साथ इसके सम्बन्धों का भी वर्णन करे।
3. राज्य को मन्त्रिपरिषद् का राज्यपाल और राज्य विधानमण्डल के साथ सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

4. राज्य की मन्त्रिपरिषद् के गठन, शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन करें।
5. राज्य की मन्त्रिपरिषद् के कार्य बताइए।
6. राज्य की मन्त्रिपरिषद् का गठन कैसे किया जाता है ?
7. मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में अन्तर स्पष्ट करें ?

4.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967

- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999
- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012

4.5 राज्य विधानमण्डल (State Legislature)

4.5.1 परिचय

संविधान द्वारा राज्य स्तर पर विधानमण्डल का निर्माण राज्यपाल, विधान सभा एवं विधान परिषद के द्वारा किया गया है। परन्तु राज्यों में विधान परिषद को होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में किसी राज्य में विधानमण्डल दो सदनीय भी हो सकता है। राज्य में विधान परिषद् की स्थापना अथवा उसकी समाप्ति के लिए संविधान का अनुच्छेद 163 संसद को अधिकार देता है। परन्तु इसके लिए राज्य विधान सभा द्वारा स्पष्ट बहुमत एवं उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई द्वारा प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। केन्द्र में राष्ट्रपति की तरह राज्य में राज्यपाल विधानमण्डल का औपचारिक अंग है।

विभिन्न राज्यों में विधानसभा की सदस्य संख्या राज्य की जनसंख्या के अनुसार निर्धारित की जाती है तथा विधानपरिषद की विधानसभा की सदस्य संख्या पर। जिन राज्यों में विधान परिषद् की व्यवस्था है वहाँ इसकी सदस्य संख्या विधानसभा के एक तिहाई के बराबर होगी परन्तु वह कम से कम 40 होगी।

4.5.2 उद्देश्य

- राज्य विधानमण्डल का गठन कैसे किया जाता है
- उसके द्वारा किए गए कार्यो का मूल्यांकन
- राज्य विधानमण्डल व मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्धों का मूल्यांकन
- मन्त्रिपरिषद् पर विधानमण्डल कैसे नियन्त्रण रखता है

4.5.3 राज्य विधानमण्डल के कार्य तथा शक्तियाँ

(Powers and Functions of the State Legislature)

विधानमण्डल को निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं –

वैधानिक शक्तियाँ (Legislative Powers)

राज्य विधानमण्डल को राज्यसूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। इसके साथ ही इसे समवर्ती सूची में दर्ज विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती सूची में दिए गए विषय संघ, संसद तथा राज्य विधानमण्डल के संयुक्त क्षेत्राधिकार में आते हैं। यदि समवर्ती सूची में विषयों से सम्बन्धित किसी कानून के बारे में राज्य तथा संघ में मतभेद हो, तो संघ का कानून मान्य समझा जाता है।

साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। परन्तु वित्तीय विधेयक पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते है, विधान परिषद् में नहीं। साधारण विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही कानून बनता है। विधानपरिषद् विधेयक को विधानसभा से प्राप्त करने की तिथि से केवल 3 मास तक के लिए अपने पास रोक सकती है। इस अवधि के बीत जाने पर, उस विधेयक को उसके मूलस्वरूप में राज्यपाल के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। विधानपरिषद् द्वारा अस्वीकृत या संशोधित विधेयक को विधानसभा उसके मूल रूप में फिर से पास करके विधानपरिषद् के पास भेज सकती है जिसे विधानपरिषद् एक महीने तक रोक सकती है, पर इस अवधि के समाप्त होने पर यदि विधान परिषद् उसे पास नहीं कर देती तो ऐसे बिल को विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत समझा जाता है और उसे राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। इससे पता चलता है कि विधानसभा ही राज्य का विधानमण्डल है।

वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)

राज्य के वित्त पर राज्य विधानमण्डल का ही अधिकार होता है। धन बिल पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। विधानसभा को राज्य के वित्त पर पूर्ण अधिकार होता है। उसकी अनुमति के बिना न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही व्यय किया जा सकता है। धन विधेयक स्वीकृत हो जाने के बाद विधान परिषद् के पास भेज दिया जाता है, पर विधानपरिषद की स्वीकृति आवश्यक नहीं होती। विधान परिषद् धन विधेयक के पास होने में 14 दिन का विलम्ब कर सकती है। विधान परिषद् में पेश होने के 14 दिन बाद राज्यपाल के हस्ताक्षर होने पर कोई भी धन विधेयक

कानून बन जाता है, चाहे विधान परिषद् ने उसे इस अवधि में पास कर दिया हो अथवा न भी किया हो।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण (Control over the Exceutive)

राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली अपनाई गई है जिसके अनुसार एक मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है। यह मंत्रिपरिषद् अपने शासन सम्बन्धी कार्यो के लिए विधानमंडल के निचले सदन अर्थात् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान सभा इस पर प्रश्न व अनुपूरक प्रश्न पूछकर काम रोको प्रस्ताव पास करके, मंत्रियों द्वारा पेश किए बिल को अस्वीकार करके, उनको वेतन में कटौती करके तथा मंत्रियों के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके, नियन्त्रण रखती है। मंत्री अपने पद पर उस समय तक बने रहते है जब तक कि उनका विधानसभा में बहुमत है। बहुमत समाप्त होते ही उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में विधान परिषदें हैं वहां वे मंत्रियों से प्रश्न व अनुपूरक प्रश्न पूछकर तथा काम रोको प्रस्ताव पास करके मंत्रियों पर नियंत्रण रखती है।

संवैधानिक अधिकार (Constitutional Powers)

संविधान की कुछ धाराओं में संशोधन के लिए राज्य विधान पालिकाओं की स्वीकृति अनिवार्य है। बिना उनकी स्वीकृति से संविधान में संशोधन नहीं किया जा सकता।

चुनाव सम्बन्धी अधिकार (Electoral Powers)

राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति तथा राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव में भाग लेते हैं।

राज्य विधानमंडलों की शक्तियों पर प्रतिबन्ध

(Restications on the Powers of the State Legislatures)

संविधान के अनुसार राज्य विधानमण्डलों की शक्तियों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं –

1. कुछ ऐसे विषय है जिन्हें राज्य सूची में समाविष्ट किया गया है, परन्तु उन पर राज्यों के विधानमण्डल उस समय तक कानून का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि उन पर भारत के राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त न हो जाए।
2. कुछ ऐसे विषय है जिन पर राज्य विधानमण्डल कानूनों का निर्माण कर सकता है, परन्तु उन्हें राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजता है।
3. संकटकालीन अवसरों पर संघीय संसद राज्य–सूची विषयों पर कानून बना सकती है।
4. समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य विधानमण्डल कानून बना सकता है, परन्तु यदि वह संसद के किसी भी कानून के विरोध में है तो ऐसी स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य रहेगा।
5. यदि किन्ही कारणों से राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति राज्य विधानसभा को भंग कर सकते है ताकि नए चुनावों की व्यवस्था की जा सकें।
6. राज्यसभा दो–तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय को केन्द्रिय संसद को सौंप सकती है। ऐसे विषय पर केन्द्रिय संसद एक वर्ष तक कानूनों का निर्माण कर सकती है और इस अवधि में वृद्धि भी की जा सकती है।

4.5.4 निष्कर्ष

राज्य विधानसभाओं की शक्ति और सम्मान का दिन–प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। विधान सभाएं हाथ उठाने वालों की संभाएं बनकर रह गयी हैं। अधिकतर राज्यों में विधानसभा के सत्र संवैधानिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए बुलाई जाती है। विधानपरिषदों के रिक्त स्थान वर्षो से भरे नहीं जाते है। विधानसभाओं में वाद–विवादों का स्तर लगातार गिरता जा रहा है। अधिकतर विधायक पार्टी नेताओं को खुश करने में अथवा सदन में हुड़दंग उत्पन्न करने में लगे रहते है। विधायक सदन में बैठने और वाद–विवाद में भाग लेने की बजाय सदन के बाहर राजनीति करते रहते है। सदनों में उपस्थिति नगण्य रहती है। अधिकांश विधायक लोगों के काम निकलवाने,

स्थानान्तरण करवाने, सिफारिश करने आदि 'मध्यस्थ' (दलाली) को भूमिका अदा करने में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे हैं। ऐसे विधायकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है जिन पर किसी न किसी प्रकार के फौजदारी अपराध में लिप्त होने के कारण मुकदमें चल रहे हैं।

4.5.5 मुख्य शब्दावली

- विधानसभा : राज्य स्तर पर निम्न सदन जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है।
- विधानपरिषद् : राज्य स्तर पर उच्च सदन जो विभिन्न वर्गो व समुदायों का प्रतिनिधित्व करता है। भारत के सभी राज्यों में द्विसदनीय विधानमण्डल नहीं है। कुछ गिने चुने राज्यों में ही विधानपरिषद् का गठन होता है।
- धन विधेयक : जो बिल धन से सम्बन्धी हो इसका निर्णय विधानसभा का स्पीकर करता है।
- साधारण विधेयक : वित के अलावा अन्य किसी भी विषय से सम्बन्धी बिल साधारण विधेयक होता है।

4.5.6 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राज्य विधानमण्डल का गठन, कार्य व स्थिति का वर्णन करे।
2. राज्य विधानमण्डल के गठन, कार्य बताइए। इसके दोनों सदनों के सम्बन्धों का भी वर्णन कीजिए।
3. विधानसभा, मन्त्रिपरिषद् पर किस प्रकार नियन्त्रण करती है।
4. राज्य विधानमण्डल सभा के अध्यक्ष का चुनाव, शक्ति तथा स्थिति का वर्णन करो।
5. राज्य विधानमण्डल का सदस्य बनने के लिए कौन–कौन सी योग्यताएं आवश्यक है ?
6. विधानसभा तथा विधानपरिषद् के आपसी सम्बन्धों का संक्षिप्त वर्णन करो ?
7. धन विधेयक व साधारण विधेयक में अन्तर स्पष्ट करें।

4.5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डब्ल्यू०एच० मोरिस जोन्स, ''दा गर्वनमैन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', बी०आई० पब्लिकेशन, 1974, दिल्ली
- डी०डी० बसु, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'', पैनटिश हॉल प्रैस, नई दिल्ली, 1994
- ग्रेनविल आस्टिन, ''इण्डियन कान्स्टीट्यूशन'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1966
- रजनी कोठारी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- रजनी कोठारी, ''कॉस्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियण्ट लान्गमैन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 1970
- वी०पी० मेनन, ''दा ट्रास्फर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रैस, 1957
- जे०आर० सिवाच, ''डायनामिक्श ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स'', स्र्टलिंग पविल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985
- रजनी कोठारी, ''स्टेट एण्ड नेशनल बिल्डिंग'', एलाईड पब्लिशर्स, बाम्बे, 1976
- सी०पी० भाम्भरी, ''दा इण्डियन स्टेट : फिफटी ईयरस'', सिप्रा, नई दिल्ली, 1999
- के०आर० बाम्बवाल, ''दा फॉउडेशन ऑफ इण्डियन फैडरलिज्म'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- पी०आर० ब्राश,''पॉलिटिक्श ऑफ इण्डिया सिन्स इन्डिपेडन्श'', II एडिशन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1994
- एन० चन्द्रहॉक, बियोंड सैक्युरेलिज्य : दा राइट्स ऑफ रिलिजियस माइन्योरटिज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1999

- ए० कौशिक, ''डैमोक्रेटिक कन्शर्न : दा इण्डियन एक्सपिरियस,'' एलैक, जयपुर, 1994
- बी०एल० फडिया, ''स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', वाल्यूम II, रेडियन्ट, नई दिल्ली, 1984
- एस० कविराज, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998
- अतुल कोहली, ''डेमोक्रेशी एण्ड डिशकनटैन्ट : इण्डियाज ग्रोईंग क्राईशिश ऑफ गर्वनएबिलिटि'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1991
- अतुल कोहली, एडिशन, ''दा सक्शैश ऑफ इण्डियाज डैमोक्रेशी'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 2001
- रजनी कोठारी, ''पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन स्टडीज'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1967
- एम०वी० पायली, ''एन इन्ट्रोडक्शन टू दा कान्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1998
- एम०वी० पायली, ''कान्टीट्यूशनल गर्वनमेण्ट इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे, 1977
- अब्बास, ''इण्डियन गर्वनमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012
- प्रवीन कुमार झा, ''तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय राजनीति'', पिर्यसन, नई दिल्ली, 2012